

भाषा भगवद्गीता



भाषा भगवद्गीता



जहँ योगेश्वर कृष्ण हैं
भूति विजय श्री नीति तहँ



जहँ अर्जुन धनुधारि ।
यह मति नृपति हमारि ॥

‘श्रीहरिः शरणम्’

❀ भाषा भगवद्गीता ❀

(हिंदी रूपान्तर)

रूपान्तरकर्ता—श्री हरि स्वरूप

प्रकाशक—तेजकुमार बुकडिपो (प्रा०) लिमिटेड

(उत्तराधिकारी—नवलकिशोर बुकडिपो)

पोस्ट-बाक्स नं० ८५, हजरतगंज, लखनऊ ।

मूल्य रु० 40/-

प्रार्थना

हे कृष्ण ! आपके चरणकमलरूपी पिंजरेमें आज ही मेरा मनरूपी राजहंस प्रवेश करे। प्राण निकलनेके समय कफ-वात-पित्तसे जकड़े हुए कण्ठसे आपका स्मरण कैसे हो सकता है ॥ १ ॥

हे कृष्ण ! आप ही हमारे माता, आप ही हमारे पिता, आप ही हमारे बंधु, आप ही हमारे सखा हैं। हे देवोंके देव आप ही विद्या, आप ही गुरु, आप ही हमारे सभी कुछ हैं ॥ २ ॥

गीता ज्ञान प्रवेश

मनुष्य जन्म दुर्लभ है। बड़े पुण्योंके प्रभावसे, अनेक जन्मोंकी धर्म की कमाईसे, जीवको मनुष्य जन्म प्राप्त होता है। मनुष्य जन्मकी सबसे बड़ी कमाई ईश्वर-प्राप्ति है। वह ईश्वर-प्राप्ति श्रीमद्भगवद्गीतामें भगवान् ने स्वयं अपने मुखारविंदसे बताई है। प्राणिमात्रके परमगुरु भगवान् कृष्ण हैं। उनका उपदेश प्राणिमात्रके हितके लिये है।

दुर्भाग्यवश संस्कृत भाषाका ज्ञान इने-गिनोंको ही प्राप्त है। भगवद्गीता संस्कृत भाषामें है। संसारकी सभी उन्नतिशील भाषाओंमें गीताका अनुवाद प्राप्त है। हिंदी भाषामें भी अनेकों अनुवाद हैं। फिर भी उस पवित्र उपदेशका जितना ही प्रचार हो उतना थोड़ा है। यह अनुवाद उसी प्रभु की सेवारूप में उन भक्तोंके लिये उपस्थित किया जाता है जो इस श्रेष्ठ

पुनीत रसका निरंतर सेवन करना चाहते हैं, पर जिनको संस्कृत भाषा का ज्ञान नहीं है।

इस अनुवाद की कोई विशेषता न होते हुये एक विशेषता है ही, वह है गीतारूपी अमृतका एक नवीन पात्र में अर्पण। अमृत तो अमृत रहैहीगा। पात्रकी नवीनता उसे आकर्षक कर सकती है। यह अनुवाद आकर्षण करने का दुःसाहस नहीं करता। केवल इतना प्रयास इस अनुवादमें किया गया है कि भगवान्‌के संस्कृत भाषामें कहेगये शब्दोंका हिंदी रूपान्तर कियागया है। इस अनुवादमें भगवान्‌के अभिप्रायको समझानेका कोई प्रयास जान-बूझ कर नहीं किया गया है, क्योंकि गीता ऐसे उपदेशके लिये अर्जुन सा अनन्य भक्त और शिष्य और श्रीकृष्ण सा साक्षात् परब्रह्म तथा गुरु होना चाहिए। क्योंकि भगवान् सभीके

समीप हैं, अतएव सभी प्राणी उनको गुरु समझकर उन्हींसे प्रार्थना करें कि आप अपने उपदेशका प्रकाश हमारे हृदयमें कीजिये । इसी उद्देश्यसे भगवान्‌के कहे हुए सभी शब्द भाषाका रूप देकर इस अनुवाद में उपस्थित किये गये हैं । पाठकोंसे प्रार्थना है कि इस रूपान्तर द्वारा भगवान्‌से निरन्तर प्रार्थना करें कि अर्जुनके ऊपर जैसी उन्होंने दया की वैसी, वरन् उससे अधिक, दया उनपर करें ।

गीता के प्रत्येक अध्यायका माहात्म्य गीताके गौरवको बताता है । उसपर पूर्ण विश्वास कर, श्रद्धा भक्ति, सहित, गीताका जितना अवकाश हो पाठ कीजिये । पूरा पाठ करनेमें आधा घंटा से एक घंटा तक लगता है । यह बहुत समय नहीं है । जो चाहे निकाल सकता है ।

श्रीमद्भगवद्गीता की प्रशंसा शब्दोंमें करना सूर्यको दीपक दिखाना

६
है। केवल इतना कहना आवश्यक ही है कि श्रीमद्भगवद्गीता ही एक ऐसी अनुपम पुस्तक है, जिसमें सभी वेद शास्त्रोंका निचोड़ स्वयं भगवान्‌के मुखारविंदसे थोड़ेमें 'गागर में सागर' के रूपमें रख दिया गया है, और सभी स्त्री, पुरुष, युवा, वृद्ध, सभी वर्ण, सभी जाति, सभी अवस्था, सभी आश्रम इस परम ज्ञानके अधिकारी बना दिये गये हैं। इस अधिकार का मूल्य केवल श्रद्धा-भक्ति है।

यदि ईश्वर प्राप्ति की इच्छा है तो भगवान्‌ की इस प्रतिज्ञाको निरंतर स्मरण रखते हुए गीता का नित्य पाठ कीजिये।

“मुझ में मन लगा, मेरा भक्त बन, मेरी पूजा कर, मुझे नमस्कार कर। यदि ऐसा करेगा तो मुझको प्राप्त होगा, यह सत्य है”।

“सब धर्मों को छोड़ केवल मेरी शरण में आजा। मैं तुझे सब पापों से

छुड़ा दूँगा । शोक मत कर ।” अन्त में अष्टादश श्लोकी तथा सप्त श्लोकी गीता मूल अनुवाद सहित दी गई है । अभीष्ट यह है कि गीताके सातसौ श्लोक पढ़ना जिनके लिये कष्टसाध्य है, वे अठारह श्लोकों को जिनमें प्रत्येक अध्यायमें से एक श्लोक दिया गया है, पढ़ ही नहीं, मुखाग्र कर सकते हैं । उनके अर्थपर मनन प्रति दिन करना सहज ही है । इतना भी न बन पड़े तो सात श्लोक पढ़ना तथा मुखाग्र करना कितना सुलभ है ? ये सात श्लोक सातसौ श्लोकोंके सार रूप महर्षि वेदव्यास जी के चुने हुए हैं ।

जितना भी हो सके, गीता का पढ़ना, मनन करना और उसपर आचरण करना परम आवश्यक है ।

गीता प्रार्थना

हे भगवद्गीते ! तुम साक्षात् श्रीकृष्ण भगवान्‌के मुखाराविंदसे निकली हो । महाभारतके बीच श्रीव्यासजीने तुमको लेख-बद्ध किया है । हे माता ! मैं शुद्ध मन से ध्यानकर तुम्हें अपने हृदय में धारण करता हूँ ।

भगवान् का ध्यान

जिनका आकार शान्त है, जो शेषनाग की शय्या पर शयन किये हुए हैं, जिनकी नाभिमें कमल है, जो देवताओंके भी ईश्वर और विश्व के आधार हैं, जो आकाशकी तरह सब जगह व्याप्त हैं, नील मेघके समान जिनका वर्ण है, जिनका शरीर सुन्दर है, जो लक्ष्मीजीके पति हैं, जिनके नेत्र कमलके समान हैं, जो योगियों द्वारा ध्यान से प्राप्त हुए हैं, जो जन्म-मरणरूप भयके नाश करनेवाले हैं, जो संपूर्ण लोकों के एकमात्र स्वामी हैं, ऐसे विष्णु भगवान्‌को मेरा प्रणाम है ।

जिसकी स्तुति दिव्य स्तोत्र द्वारा ब्रह्मा, गरुड़, इन्द्र, रुद्र, और मरुद्गण करते हैं; जिनका सामवेद के गानेवाले अङ्ग, पद, क्रम और उपनिषदोंके सहित वेदों द्वारा, गायन करते हैं, जिसका योगी लोग ध्यानमें स्थित उनमें मिले हुए मन से दर्शन करते हैं, जिसके अन्त को सुर असुर कोई भी नहीं जानता; उस परब्रह्म के लिये मेरा प्रणाम है ॥

गीता माहात्म्य

इस पुण्य गीता शास्त्र को जो नित्य पढ़े, वह भय-शोक रहित विष्णुपद वैकुण्ठ को प्राप्त हो । १ । गीता पढ़नेवालेके और प्राणायाम करनेवालेके पूर्वजन्मके किये हुये पाप नाशको प्राप्त हो जाते हैं । २ । प्रति दिन जलमें स्नान करने से शरीरके मलका नाश होता है । गीतारूपी जलमें एक बार

भी स्नान करनेसे संसारके मलका नाश हो जाता है । ३ । गीताको अच्छी प्रकार पढ़ना चाहिये । अनेक शास्त्रोंके पढ़नेसे क्या लाभ ? यह गीता तो स्वयं कमलनाभ भगवान् विष्णुके मुखकमलसे निकली है । ४ । विष्णु भगवान् के मुखसे निकली हुई, महाभारतका अमृत, गीतारूपी गंगाजल को पीकर पुनर्जन्म नहीं होता । ५ । सब उपनिषद् गौएँ हैं, गोपालनन्दन दूध दुहनेवाले हैं, अर्जुन बछड़ा है और दूध महान् अमृतके समान गीता है । बुद्धिमान् इस अमृत-दूध को पीते हैं । ६ । शास्त्र एक ही है, वह है देवकी पुत्र कृष्णकी गीता । ईश्वर एक ही है, वह है देवकी पुत्र श्रीकृष्ण । मंत्र एक ही है, वह है कृष्णके अनेक नाम । कर्म एक ही है, वह है कृष्णकी सेवा । ७ ।

संक्षिप्त माहात्म्य कथा

एक बार पृथ्वीने भगवान् विष्णु से पूछा, “हे भगवन्, मनुष्य संसार में अपने कर्मोंका फल भोगते हुए किस प्रकार आपको प्राप्त कर सकता है ?” भगवान् ने उत्तर दिया, “हे पृथ्वी, जो प्राणी गीता का नित्य पाठ करता है, वह इस लोकमें जीवन्मुक्त होकर सुख पाता है और कर्मोंसे लिप्त नहीं होता। उसके सब पाप छूट जाते हैं और महापातक भी उसका स्पर्श उसी प्रकार नहीं करते जिस प्रकार जल कमल के पत्तों का। जिस घर में गीताकी पुस्तक रहती है, वहाँ सभी तीर्थ, सब देवता, ऋषि-महर्षि, मुनि, योगी निवास करते हैं और उस घरवालेकी ये सब देवता ऋषि, मुनि रक्षा करते हैं। जिस घरमें गीताकी पुस्तक रहती है, जहाँ गीताका पठन, पाठन, श्रवण, मनन होता है वहाँ पर भगवान् निस्संदेह निवास करते हैं। गीता भग-

वान्का निवास-स्थान है, भगवान् गीताके आश्रित हैं । भगवान् गीताके ज्ञानका आश्रय लेकर तीनों लोकोंका पालन करते हैं ।

गीतामें अठारह अध्याय हैं । जो प्राणी एकाग्रचित्त होकर इन अठारह अध्यायोंका नित्य पाठ करता है वह इस लोकमें जीवन्मुक्त रहकर अंत में वैकुण्ठ को जाता है । नौ अध्यायका नित्य पाठ करनेसे सौ गौदानके बराबर पुण्य होता है । छः अध्यायका पाठ करनेसे गंगास्नान का पुण्य होता है । तीन अध्यायोंका पाठ करनेसे सोमयाग करनेका फल मिलता है । एक अध्यायका पाठ करनेसे शिवलोक प्राप्त होता है । एक श्लोक अथवा एक चरणका ही नित्य पाठ करनेसे मन्वन्तर पर्यंत मानव शरीर पाता है ।

गीताके दस, सात, पाँच, चार, अथवा दो ही तीन श्लोकोंके पाठ करने से चन्द्रलोक दस हजार वर्षों के लिये प्राप्त होता है । मृत्युके समय गीता

पाठ करता हुआ अथवा सुनता हुआ जो शरीर छोड़ता है, उसे मृत्युका कष्ट नहीं होता और दूसरा जन्म मनुष्य योनि में ही होता है।

महापातकी प्राणीके गीताका नित्य पाठ करनेसे सब पाप छूट जाते हैं। और अंत में वैकुण्ठ धाम प्राप्त होता है। गीताका अध्ययन और मनन परमगतिको दिलाता है। माहात्म्यके साथ गीता पाठ करनेसे गीतापाठ का पूर्ण फल प्राप्त होता है।



पहले अध्यायका संचित्त माहात्म्य

सुशर्मा नामका एक व्यभिचारी ब्राह्मण था। वह सदा पाप कर्म ही करता था। जप, होम या अतिथि सत्कार कभी न करता था। वह खेती करता, मदिरा पीता, मांस खाता और सदैव विषयभोग में समय बिताता था। एक दिन अपनी बकरीके लिये पत्ते तोड़ने बागमें गया। वहाँ उसे सर्पने काट लिया। मरकर वह यमलोकको गया। अपने पापोंके फल से बहुत काल नरक भोगकर मृत्युलोकमें बैल हुआ। उस बैलको एक लँगड़े भिखारीने मोल लिया और उस पर चढ़कर भीख माँगने जाता। बैल पेटभर चारा न मिलनेके कारण दुर्बल होने लगा। एक दिन मार्ग में थक कर गिर पड़ा और बेहोश हो गया। पर प्राण नहीं निकले। गाँवके लोग जमा हो गये। उसकी दशा पर सभी को दुःख हुआ। और वे सब उसकी मृत्युके लिये यह कहकर प्रार्थना

करने लगे कि हम अपना अमुक पुण्य इस बैलको देते हैं, जिससे इसके प्राण छूट जावें। इतनेमें एक वेश्या भी वहाँ आई। उसने भी कहा, “हमारे पुण्य से इसका दुःख छूट जावे”। वह जानती थी कि उसने कोई पुण्य नहीं किया है पर हँसी में कह डाला। उसके कहते ही बैल मर गया और उस वेश्या के पुण्य प्रतापसे एक ब्राह्मणके घरमें जन्म लिया। उसे इस वेश्याके पुण्यसे पूर्वजन्म का स्मरण रहा। वह वेश्याके पास गया और पूछा, “तुमने कौन सा पुण्य किया है जिसके प्रतापसे मुझे बैलकी योनिसे छुटकारा पाकर ब्राह्मण योनि मिली है। वेश्याने कहा, “जानमें तो हमने कोई पुण्य नहीं किया है। क्या बतावें ? हाँ, हमारे यहाँ एक तोता पला है, वह सबेरे कुछ पढ़ता है। उसकी बोली हमें बड़ी प्यारी लगती है, उसे हम ध्यानसे सुना करती हैं।” तब ब्राह्मणने तोते से पूछा “तुम क्या पढ़ते हो ?” तोते ने कहा, “हम पहले एक मुनिके आश्रमपर रहते थे। मुनिके शिष्य प्रतिदिन पहले अध्यायका

पाठ करते थे । हमें भी वह अध्याय याद हो गया और हम भी पढ़ने लगे । एक बहेलिया हमको पकड़ लाया और इस वेश्याके हाथ बँच गया । तबसे हम इसके यहाँ रहते हैं और नित्य पहला अध्याय प्रातःकाल पाठ कर लेते हैं ।”

तोतेकी यह बात सुनकर ब्राह्मण भी उसी दिन से गीता के पहले अध्याय का पाठ करने लगा । अंत को वे तीनों—तोता, वेश्या और ब्राह्मण—गीताके पहले अध्यायके प्रभावसे वैकुण्ठ लोकको गये ।

हरिः ॐ तत्सत्

❀ भाषा भगवद्गीता ❀

[अर्जुन-विषादयोग नाम पहला अध्याय]

धृतराष्ट्र बोले—

हे संजय, धर्मभूमि कुरुक्षेत्रमें, इकट्ठे हुए, युद्धकी इच्छा वाले मेरे (पुत्रोंने) और पांडुके पुत्रोंने क्या किया ? ॥ १ ॥

संजय बोले—

उस समय राजा दुर्योधनने व्यूहरचनायुक्त पाण्डवों की सना को देखकर और द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा ॥ २ ॥ हे आचार्य ! आपके बुद्धिमान शिष्य, द्रुपदपुत्र

धृष्टद्युम्न द्वारा व्यूहाकार खड़ी कीहुई पांडु पुत्रों की इस बड़ी भारी सेनाको देखिये ॥ ३ ॥ इस सेनामें बड़े-बड़े धनुषोंवाले, युद्धमें भीम और अर्जुनके समान बहुतसे शूरवीर हैं, जैसे सात्यकि और विराट और महारथी राजा द्रुपद ॥ ४ ॥ और धृष्टकेतु, चेकितान; और बलवान् काशिराज, पुरुजित, कुन्तिभोज, और मनुष्यों में श्रेष्ठ शैब्य ॥ ५ ॥ और पराक्रमी युधामन्यु; और बलवान् उत्तमौजा; सुभद्रा-पुत्र अभिमन्यु; और द्रौपदीके पाँचों पुत्र—ये सब ही महारथी हैं ॥ ६ ॥ हे ब्राह्मणश्रेष्ठ, हमारी ओर भी जो-जो प्रधान हैं उनको जान लीजिये । आपके जाननेके लिये मेरी सेना के जो-जो सेनापति हैं उनको बताता हूँ ॥ ७ ॥ आप स्वयं,

पितामह भीष्म, और कर्ण, और युद्ध में जीतनेवाले कृपा-
चार्य; और वैसे ही अश्वत्थामा, विकर्ण; और सोमदत्त का
पुत्र (भूरिश्रवा) इनके अतिरिक्त हैं ॥ ८ ॥ और भी बहुत से
शूरवीर हैं, जिन्होंने मेरे लिये जीवन समर्पण कर दिया है।
ये सबके सब अनेक प्रकार के शस्त्रास्त्रोंसे सुसज्जित और युद्ध
कलामें चतुर हैं ॥ ९ ॥ तथापि भीष्म पितामह द्वारा रक्षित
हमारी यह सेना (पांडवों पर विजय प्राप्त करनेमें) पर्याप्त
नहीं है; और भीम द्वारा रक्षित इन लोगोंकी यह सेना
पर्याप्त है ॥ १० ॥ इसलिये सब मोर्चों पर, अपनी अपनी
जगह डटे हुए, आपलोग सब के सब निश्चय भीष्मपिता-
महकी ही सब ओर से रक्षा करें ॥ ११ ॥ कौरवोंमें वृद्ध, बड़े

प्रतापी, पितामह भीष्मने उस दुर्योधनके हृदयमें हर्ष उत्पन्न करते हुए ऊँचे स्वरसे सिंहकी नादके समान गर्जकर शङ्ख बजाया ॥ १२ ॥ उसके बाद शङ्ख और नगारे और ढोल मृदङ्ग, और नृसिंहादि बाजे एक साथ ही बजे। उनका वह शब्द बहुत ही ऊँचा हुआ ॥ १३ ॥ इसके बाद सफेद घोड़ोंसे युक्त, उत्तम रथमें विराजमान माधव और अर्जुनने भी दिव्य शङ्ख बजाये ॥ १४ ॥ हृषीकेशने पांचजन्य, अर्जुनने देवदत्त, भीमसेनने पौंड्र नामके महाशङ्ख को बजाया ॥ १५ ॥ कुंतीपुत्रराजा युधिष्ठिर ने अनन्तविजय, नकुल और सहदेव ने सुघोष और मणिपुष्पक शङ्ख बजाये ॥ १६ ॥ श्रेष्ठ धनुष-वाला काशिराज और महारथी शिखण्डी और धृष्टद्युम्न

और राजा विराट, और किसीसे भी न जीते जानेवाले सात्यकि, राजा द्रुपद और द्रौपदी के पुत्र, और बड़ी भुजा-वाला सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, इन सबने, हे राजन् ! सब ओर से अलग-अलग शङ्ख बजाये ॥ १८ ॥ और उस भयानक शब्दने आकाश और पृथ्वीको भी शब्दायमान करते हुए धृतराष्ट्र के पुत्रों के हृदयों को विदीर्ण कर दिया ॥ १९ ॥ हे राजन् ! उसके बाद बानरकी ध्वजावाले अर्जुनने, खड़े हुए धृतराष्ट्र पुत्रोंको देखकर, उस शस्त्रचलनेकी तैयारीके समय, धनुष उठाकर ॥ २० ॥ हृषीकेश भगवान् श्रीकृष्णसे यह वचन कहा, “हे अच्युत ! मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीच में खड़ा करिये ॥ २१ ॥ मैं इन खड़े हुए, युद्धकी इच्छावालों

को अच्छी प्रकार देख लूँ कि इनमें मुझे किन-किन के साथ युद्ध करना है ॥ २२ ॥ दुर्बुद्धि दुर्योधनका युद्धमें प्रिय चाहनेवाले जो-जो ये राजा लोग इस सेना में आये हैं, उन युद्ध करनेवालों को मैं देखलूँ” ॥ २३ ॥

संजय बोले—

हे धृतराष्ट्र ! अर्जुन द्वारा इस प्रकार कहे हुए श्रीकृष्णने दोनों सेनाओंके बीचमें उत्तम रथको खड़ाकर ॥ २४ ॥ भीष्म और द्रोणाचार्यके सामने और संपूर्ण राजाओंके सामने ऐसे कहा कि, “हे अर्जुन ! इन इकट्ठे हुए कौरवोंको देख” ॥ २५ ॥ उसके बाद अर्जुनने, उन दोनों ही सेनाओं में स्थित हुए, ताऊ-चाचोंको, दादोंको, आचार्योंको, मामों-

को, भाइयों को, पुत्रोंको, पौत्रोंको, तथा मित्रोंको, ससुरों को और सुहृदोंको भी देखा ॥ २६ ॥ उन खड़े हुए सब बंधुओंको देखकर, वह अत्यन्त करुणासे युक्त, कुन्तीपुत्र अर्जुन, शोक करता हुआ यह बोला ॥ २७ ॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! इस युद्ध की इच्छा वाले, खड़े हुए, अपने संबंधियोंको देखकर ॥ २८ ॥ मेरे अङ्ग शिथिल हुए जाते हैं; और मुख सूखा जाता है । और मेरे शरीरमें कपकँपी हो रही है और रोएँ खड़े हो रहे हैं ॥ २९ ॥ मेरे हाथसे गाण्डीव धनुष गिर रहा है, और चर्म भी बहुत जलता है, और मेरा मन चक्कर सा खा रहा है । इसलिये मैं खड़ा रहने को भी

समर्थ नहीं हूँ ॥ ३० ॥ हे केशव ! लक्ष्मणोंको भी उलटा देख रहा हूँ । युद्धमें अपने संबंधियोंको मारकर, कल्याण भी नहीं देख रहा हूँ ॥ ३१ ॥ हे कृष्ण ! मैं विजय को नहीं चाहता, और राज्य तथा सुखको भी नहीं चाहता । हे गोविन्द ! हमें राज्य से क्या प्रयोजन, अथवा जीवनसे भी क्या प्रयोजन ? ॥ ३२ ॥ हमें जिनके लिये राज्यभोग और सुख चाहिए, वे ही ये सब, धन और जीवन की आशा को त्याग कर, युद्ध में खड़े हैं ॥ ३३ ॥ गुरुजन, ताऊ-चाचे, पुत्र, और वैसे ही दादा, मामा, ससुर, नाती, साले, तथा और भी संबन्धी लोग हैं ॥ ३४ ॥ हे मधुसूदन ! मुझे मारने पर भी अथवा तीनलोक के राज्य के लिये भी मैं इन सबको मारना नहीं चाहता फिर पृथिवी

के लिये तो कहना ही क्या ॥ ३५ ॥ हे जनार्दन ! धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारकर भी हमें क्या प्रसन्नता होगी ? इन आत-
ताइयों को मारकर तो हमें पाप ही लगेगा ॥ ३६ ॥ इससे
हे माधव ! अपने कुटुम्बी धृतराष्ट्रके पुत्रोंको मारनेके लिए
हम योग्य नहीं हैं, क्योंकि अपने कुटुम्बको मारकर हम
कैसे सुखी होंगे ॥ ३७ ॥ यद्यपि लोभसे भ्रष्ट-चित्त हुए ये
लोग नाश करनेके दोषको और मित्रोंके कुलके साथ
विरोध करनेके पापको नहीं देखते हैं ॥ ३८ ॥ परंतु हे जना-
र्दन ! कुलके नाश करनेसे होते हुए दोषको जाननेवाले
हम लोगों को इस पापसे हटाने के लिये क्यों नहीं विचार
करना चाहिए ? ॥ ३९ ॥ क्योंकि कुलके नाश होनेसे

सनातन कुलधर्म नाश हो जाते हैं। धर्मके नाश होने से सब कुलको पाप भी बहुत दबा लेता है ॥ ४० ॥ हे कृष्ण ! पापके अधिक बढ़ जाने से कुलकी स्त्रियाँ दूषित हो जाती हैं। और हे कृष्ण ! स्त्रियोंके दूषित होने पर वर्णसंकर उत्पन्न होता है ॥ ४१ ॥ और वह वर्णसंकर कुलके नाश करने वालोंको और कुलको नरकमें ले जाने के लिये ही होता है ॥ ४२ ॥ और इन वर्णसंकर करने वाले दोषों से कुलघातियों के सनातन कुलधर्म और जातिधर्म नष्ट हो जाते हैं ॥ ४३ ॥ हे जनार्दन ! नष्ट हुए कुल धर्म वाले मनुष्यों का अनन्त काल तक नरक में वास होता है। ऐसा हमने सुना है ॥ ४४ ॥ अहो ! शोक है कि हम लोग महान पाप करने

को तैयार हुए हैं, जो कि राज्य और सुखके लोभसे अपने कुल को मारने के लिये उद्यत हुए हैं ॥ ४५ ॥ यदि मुझ शस्त्र रहित, न सामना करने वाले को, शस्त्रधारी धृतराष्ट्रके पुत्र रण में मारें, तो वह मरना भी मेरे लिये अधिक कल्याणकारक होगा ॥ ४६ ॥

संजय बोले—

रण भूमि में शोक से दुखीमनवाला अर्जुन इस प्रकार कहकर बाणसहित धनुषको छोड़कर रथके पिछले भाग में जा बैठा ॥ ४७ ॥

अर्जुनविषादयोग नाम पहला अध्याय समाप्त हुआ ।



दूसरे अध्याय का माहात्म्य

गोदावरी नदीके किनारे प्रतिष्ठान नामका एक नगर था। वहाँ दुर्दम नामका एक ब्राह्मण रहता था। दुर्दम अपना जीवन-निर्वाह राजाकी दान दक्षिणासे करता था। जब दुर्दमकी मृत्यु हुई, तो यमराजके दूत उसके गलेमें फाँसी डालकर यमपुरीको ले गये। वहाँ बहुत दिनों तक, सब नर-कोंका कष्ट भोगकर, उसको फिर एक ब्राह्मणके घर में जन्म मिला। उसका विवाह एक नीच कुलकी दुष्ट कन्यासे हुआ। यह दुष्टा एक चाण्डालसे प्रेम करती थी। एक दिन इसने अपने पतिको सिर काट डाला। दुर्दम मरकर यम लोकको गया और अनेक योनियोंमें भ्रमण करता हुआ अंतमें बाघकी योनिमें जन्म लिया। उसकी व्यभिचारिणी स्त्री भी मरकर नरकोंका कष्ट भोगकर बकरी हुई। एक दिन इस बकरी को देखकर वह बाघ उसपर

झपटा । परन्तु उसके समीप आते ही चुप खड़ा हो गया । बकरीने कहा, “हे बाघ ! तुम हमारा मांस क्यों नहीं खाते हो ?” बाघ ने कहा, “हम दौड़े तो इसी लिये थे, पर यहां आकर न जाने क्या हुआ कि अब हमारा मन तुमको मारने को नहीं होता ।”

उस स्थानपर एक ब्रह्मज्ञानी महात्मा रहते थे । वे गीताके दूसरे अध्याय का पाठ करते थे । उसीके प्रभावसे बाघको बकरीको मारने की इच्छा मर गई । बाघ और बकरी दोनों वैर छोड़कर उस मुनिके आश्रम में रहने लगे और गीता का पाठ सुनने लगे । अन्त को वे दोनों शरीर छूटने पर वैकुण्ठ लोक को गये ।



हरिः ॐ तत्सत्

[सांख्ययोग नाम दूसरा अध्याय]

संजय बोले—

पहले कहे हुए प्रकार से करुणासे व्याप्त, आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुलनेत्रवाले, शोकसे युक्त, उस अर्जुनके प्रति, भगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! तुमको इस संकटके समयमें यह शोक किस हेतु प्राप्त हुआ, क्योंकि यह न तो श्रेष्ठ पुरुषोंसे आचरण किया गया है, न यह स्वर्गको देने वाला है, न कीर्तिको करनेवाला है ॥ २ ॥ इसलिये हे अर्जुन ! नपुंसकता को मत

प्राप्त हो। यह तुझमें योग्य नहीं है। हे परंतप ! तुच्छहृदयकी दुर्बलताको त्यागकर युद्धके लिए खड़ा हो जा ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन ! मैं रणभूमिमें भीष्मपितामह और द्रोणाचार्यके प्रति किस प्रकार बाणोंसे युद्ध करूँगा, क्योंकि हे अरिसूदन ! वे दोनों ही पूजनीय हैं ॥ ४ ॥ इसलिए इन महानुभाव गुरुजनोंको न मारकर इस लोकमें भिक्षाका अन्न भी भोगना कल्याणकारक है; क्योंकि गुरुजनोंको मारकर भी इस लोक में, रुधिरसे सनेहुये अर्थ और कामरूप भोगोंको ही तो भोगूँगा ॥ ५ ॥ और हमलोग यह भी नहीं जानते कि हमारे लिये क्या करना श्रेष्ठ है। अथवा यह

भी नहीं जानते कि हम जीतेंगे या हमको वे जीतेंगे। जिनको मारकर हम जीना भी नहीं चाहते, वे ही धृतराष्ट्र के पुत्र हमारे सामने खड़े हैं ॥ ६ ॥ इसलिये कायरतारूप दोषसे दूषित स्वभाववाला और धर्म के विषयमें मोहित चित्तवाला मैं आपसे पूछता हूँ। जो कुछ निश्चय किया हुआ कल्याणकारक साधन हो वह मेरे लिये कहिये। क्योंकि मैं आपका शिष्य हूँ, इसलिये आपकी शरण में प्राप्त हुये मुझको शिक्षा दीजिये ॥ ७ ॥ क्योंकि भूमि में निष्कण्टक धनधान्यसंपन्न राज्यको और देवताओंके स्वामीपनको प्राप्त होकर भी मैं उस उपायको नहीं देखता हूँ जो कि मेरी इन्द्रियोंके सुखानेवाले शोकको दूर करसके ॥ ८ ॥

संजय बोले—

हे राजन् ! निद्राको जीतनेवाला अर्जुन, अंतर्यामी श्री-
कृष्ण महाराजके प्रति इस प्रकार कहकर, फिर श्री गोविंद
भगवान्‌को “युद्ध नहीं करूँगा” ऐसा स्पष्ट कहकर चुप हो
गया ॥६॥ उसके बाद, हे भरतवंशी धृतराष्ट्र ! अंतर्यामी श्री-
कृष्ण महाराजने दोनों सेनाओं के बीचमें उस शोकयुक्त
अर्जुनसे हँसते हुए यह वचन कहा ॥ १० ॥

श्री भगवान्‌ बोले—

हे अर्जुन ! तू शोकन करनेयोग्योंके लिये शोक करता है
और पंडितोंके से वचनों को कहता है । परन्तु पण्डित लोग,
जिनके प्राण चले गये हैं और जिनके प्राण नहीं गये हैं उनके

लिये भी, शोक नहीं करते ॥ ११ ॥ न तो ऐसा ही है कि मैं किसी काल में नहीं था, अथवा तू नहीं था, अथवा ये राजा लोग नहीं थे । और न ऐसा ही है कि इसके आगे हम सब नहीं रहेंगे ॥ १२ ॥ किन्तु जैसे जीवात्माकी इस देहमें कुमार, युवा और वृद्ध, अवस्था होती है, वैसे ही अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है । उस विषयमें धीर-पुरुष मोहित नहीं होता है ॥ १३ ॥

हे कुन्तीपुत्र ! सदी-गर्मी और सुख-दुख को देनेवाले इन्द्रिय और विषयों के संयोग तो आनेजानेवाले, क्षणभंगुर और अनित्य हैं । इसलिये, हे भरतवंशी अर्जुन ! उनको तू सहन कर ॥ १४ ॥ क्योंकि हे पुरुषश्रेष्ठ ! सुख दुख को समान समझने-

वाले जिस धीर पुरुषको ये इन्द्रियोंके विषय व्याकुल नहीं कर सकते, वह मोक्षके लिये योग्य होता है ॥ १५ ॥ और हे अर्जुन ! असत् वस्तुका तो अस्तित्व नहीं है और सत् वस्तु का अभाव नहीं है । इस प्रकार इन दोनों का ही तत्त्व ज्ञानी पुरुषों द्वारा देखा गया है ॥ १६ ॥ नाशरहित तो उसको जान, जिससे यह संपूर्ण जगत् व्याप्त है । क्योंकि इस अविनाशी का विनाश करने को कोई भी समर्थ नहीं है ॥ १७ ॥ और इस नाशरहित, प्रमाणरहित, नित्य स्वरूप, जीवात्मा के ये सब शरीर नाशवान् कहे गये हैं । इसलिये, हे भरतवंशी अर्जुन ! तू युद्ध कर ॥ १८ ॥ जो इस आत्मा को मारने वाला समझता है, तथा जो इसको मरा मानता है, वे दोनों

ही नहीं जानते हैं। क्योंकि यह आत्मा न मरता है और न मारा जाता है ॥ १९ ॥ यह आत्मा किसी काल में भी न जन्मता है और न मरता है। अथवा, न यह आत्मा होकर के फिर होनेवाला है। क्योंकि यह जन्मरहित, नित्य, एक समान रहने वाला और सनातन है। शरीर के नाश होने पर भी यह नाश नहीं होता है ॥ २० ॥ हे पृथापुत्र अर्जुन ! जो पुरुष इस आत्मा को नाशरहित, नित्य, जन्मरहित और अविनाशी जानता है, वह पुरुष कैसे किसको मरवाता है और कैसे किसको मारता है ॥ २१ ॥ जैसे, मनुष्य पुराने वस्त्रों को त्यागकर दूसरे नये वस्त्रों को ग्रहण करता है, वैसे ही जीवात्मा पुराने शरीरों को त्यागकर दूसरे

नये शरीरों को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ इस आत्मा को शस्त्र नहीं काट सकते हैं, और इसको अग्नि नहीं जला सकती है, तथा जल नहीं भिगो सकता है और वायु नहीं सुखा सकता है ॥ २३ ॥ यह आत्मा काटी नहीं जा सकती, यह आत्मा जलाई नहीं जा सकती, गलाई नहीं जा सकती, और सुखाई, नहीं जा सकती है। तथा यह आत्मा निःसन्देह नित्य, सर्व-व्यापक, अचल, स्थिर रहनेवाली और सनातन है ॥ २४ ॥ यह आत्मा मूर्तिरहित है, यह आत्मा चिन्तन नहीं की जा सकती, यह आत्मा विकाररहित कहा जाता है। इससे हे अर्जुन! इस आत्माको ऐसा जानकर तुमेशोक करना उचित नहीं है ॥ २५ ॥ और यदि तू इसको सदा जन्मने और

सदा मरनेवाला माने, तो भी हे महाबाहु अर्जुन ! इस प्रकार शोक करने योग्य नहीं है ॥ २६ ॥ क्योंकि ऐसा होनेसे तो जन्मनेवाले की निश्चित मृत्यु, और मरनेवालेका निश्चित जन्म होना सिद्ध हुआ । इससे भी तू इस बिना उपायवाले विषयमें शोक करनेके योग्य नहीं है ॥ २७ ॥ हे भारत अर्जुन ! सब प्राणी जन्मसे पहिले बिना शरीरवाले और मरने के बाद भी बिना शरीरवाले ही हैं, केवल बीचमें ही शरीरवाले प्रतीत होते हैं, फिर उस विषय में क्या चिन्ता है ॥ २८ ॥ कोई महापुरुष ही इस आत्माको आश्चर्यकी तरह देखता है, और वैसे ही कोई दूसरा महापुरुष ही आश्चर्य की तरह इसके तत्त्व को कहता है । और दूसरा कोई महापुरुष ही इस आत्मा

को आश्चर्य की तरह सुनता है, और कोई-कोई सुनकर भी इस आत्माको नहीं जानता ॥ २६ ॥ हे भारत ! यह आत्मा सभी के शरीर में है, कभी मारे जानेवाला नहीं है। इसलिये सब प्राणियों के लिये तू शोक करने योग्य नहीं है ॥ ३० ॥ और अपने धर्म को देखकर भी तू भय करने के योग्य नहीं है। क्योंकि धर्मयुक्त युद्ध से बढ़कर दूसरा कोई कल्याणकारक कर्तव्य क्षत्रिय के लिये नहीं है ॥ ३१ ॥ हे पार्थ अर्जुन ! अपने आप प्राप्त हुए और खुले हुए स्वर्ग के द्वार रूप इस प्रकार के युद्ध को भाग्यवान क्षत्रिय लोग ही पाते हैं ॥ ३२ ॥ और यदि तू इस धर्मयुक्त संग्राम को नहीं करेगा, तो स्वधर्म को और कीर्तिको खोकर पापको प्राप्त होगा ॥ ३३ ॥

और सब लोग तेरी नाश न होने वाली अपकीर्तिको भी कथन करेंगे । और वह अपकीर्ति माननीय पुरुष के लिये मरण से भी अधिक बुरी होती है ॥ ३४ ॥ और जिनका तू, बहुत माननीय होकर भी अब तुच्छता को प्राप्त होगा, वे महारथी लोग तुझे भय के कारण युद्ध से भागा हुआ मानेंगे ॥ ३५ ॥ और तेरे वैरी लोग तेरे बल की निन्दा करते हुए बहुत से दुर्वचन कहेंगे । फिर उससे अधिक दुःख क्या होगा ॥ ३६ ॥ या मरकर स्वर्ग को प्राप्त होगा, अथवा जीतकर पृथ्वी को भोगेगा । इससे हे कुंती के पुत्र, युद्ध के लिये निश्चय कर खड़ा होजा ॥ ३७ ॥ सुख-दुख, लाभ-हानि और जीत-हार को समान समझकर उसके बाद युद्ध के लिये

तय्यार हो । इस प्रकार युद्ध करने से तू पाप को नहीं प्राप्त होगा ॥ ३८ ॥ हे पार्थ, यह बुद्धि तेरे लिये ज्ञान योगके विषय में कही गई, और इसीको अब निष्काम कर्मयोगके विषय में सुन, जिस बुद्धिसे युक्त हुआ तू कर्मोंके बंधनको अच्छी तरह नाश करेगा ॥ ३९ ॥ इस निष्काम कर्मयोग में आरम्भ का, अर्थात् जो कुछ किया जाय उसका, नाश नहीं है, और विधि का उल्लंघन करने से उलटा फल का पाप भी नहीं होता है । इसलिये इस निष्काम कर्मयोगरूप धर्मका थोड़ा भी साधन जन्म-मृत्युरूप महान् भयसे उद्धार कर देता है ॥ ४० ॥ हे कुरुनन्दन, अर्जुन ! इस कल्याण मार्गमें निश्चय करनेवाला ज्ञान एक ही है । अज्ञानी पुरुषों की बुद्धियाँ बहुत

भेदोंवाली अनन्त होती हैं ॥४१॥ हे अर्जुन ! जो सकामी पुरुष, केवल फलश्रुतिमें प्रीति रखनेवाले, स्वर्गको ही परम श्रेष्ठ माननेवाले, और कुछ नहीं है ऐसा कहने वाले, अविवेकी मनुष्य, पुनर्जन्मरूप कर्मफल देनेवाली, भोग तथा ऐश्वर्य की प्राप्ति के लिये, बहुत सी क्रियाओं के विस्तारवाली, इस प्रकार की जिस दिखाऊ शोभायुक्त वाणी को कहते हैं ॥ ४२-४३ ॥ उस वाणी द्वारा जिनका चित्त बहका हुआ है और जो भोग और ऐश्वर्य में फँसे हुए हैं, उन पुरुषों के अन्तःकरण में निश्चयात्मक बुद्धि उत्पन्न नहीं होती ॥ ४४ ॥ हे अर्जुन ! वेद तो तीनों गुणों के कार्यरूप संसार को प्रकाश करने वाले हैं । इसलिये तू निष्काम और सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंसे

रहित, नित्य वस्तुमें स्थित और सांसारिक पदार्थों की प्राप्ति तथा उनकी रक्षा को न चाहनेवाला और आत्म स्वरूप की खोज में तत्पर हो ॥ ४५ ॥ क्योंकि मनुष्यका सब ओर से परिपूर्ण जलाशयके प्राप्त होने पर छोटे जलाशय में जितना प्रयोजन रहता है, अच्छी-प्रकार ब्रह्मको जाननेवाले ब्राह्मण का भी सब वेदों में उतना ही प्रयोजन रहता है [अर्थात् जैसे बड़े जलाशय के प्राप्त होजाने पर छोटे जलाशयों की जलके लिये आवश्यकता नहीं रहती, उसी प्रकार ब्रह्मानन्द प्राप्त होने पर वेदोंकी आनन्दके लिये आवश्यकता नहीं रहती] अथवा जैसे सब ओर से परिपूर्ण जलाशय में प्यासे

मनुष्यको जितना आवश्यक होता है उतना ही जल लेता है, वैसे ही ब्रह्म के जाननेवाले मुमुक्षु ब्राह्मणको समस्त वेदोंमें जितना अंश आवश्यक हो उतना ही ग्रहण करना चाहिये ॥ ४६ ॥ तेरा कर्म करने मात्रमें ही अधिकार है, फलमें कभी नहीं, और तू कर्मफल का हेतु मत हो, तथा तेरी कर्म न करने में भी प्रीति न होवे ॥ ४७ ॥ हे धनंजय, अर्जुन ! आसक्तिको त्यागकर, तथा सिद्धि और असिद्धिमें समान बुद्धिवाला होकर, योग में स्थित हुआ कर्मों को कर । यह समत्व * भाव ही

* समत्व—जो कुछ भी कर्म किया जावे उसके पूर्ण होने और न होने में तथा उसके फल से समभाव रहने का नाम "समत्व" है ।

योग नाम से कहा जाता है ॥ ४८ ॥ इस समत्व रूप बुद्धि योगसे सकाम कर्म अत्यन्त तुच्छ है। इसलिये हे धनंजय ! समत्व बुद्धियोगका आश्रय ग्रहणकर, क्योंकि फल की वासनावाले अत्यन्त हीन हैं ॥ ४९ ॥ समत्वबुद्धियुक्त पुरुष पुण्य-पाप दोनों को इस लोकमें ही त्याग देता है, इससे समत्व बुद्धियोग के लिये ही चेष्टा कर। यह समत्व बुद्धि रूप योग ही कर्मों में चतुरता है अर्थात् कर्मबन्धन से छूटने का उपाय है ॥ ५० ॥ क्योंकि बुद्धियोग युक्त ज्ञानी जन, कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाले फलको त्यागकर जन्म रूप बन्धनसे छूटे हुए दुखरहित अर्थात् अमृतमय परमपद को प्राप्त होते हैं ॥ ५१ ॥ इस प्रकार कर्म करते करते

जिस कालमें तेरी बुद्धि मोह रूप दलदल को बिलकुल तर जायगी, तब तू पहले सुनेहुए और भविष्यमें सुने जानेवाले सब प्रकारके फलोंसे स्वयं ही विरक्त हो जायगा ॥ ५२ ॥ और जब तेरी अनेक प्रकार के सिद्धांतों को सुनने से विचलित हुई बुद्धि, परमात्मा के स्वरूप में अचल और स्थिर हो जावेगी, तब तू समत्व रूप आत्मदर्शन योग को प्राप्त होगा ॥ ५३ ॥

अर्जुन बोले—

हे केशव ! समाधिमें स्थित स्थिरबुद्धिवाले पुरुषका क्या लक्षण है और स्थिरबुद्धि पुरुष कैसे बोलता है, कैसे बैठता है, कैसे चलता है ? ॥ ५४ ॥

श्रीभगवान् बोले--

हे पार्थ अर्जुन ! जिस कालमें यह पुरुष मनमें स्थित संपूर्ण कामनाओं को त्याग देता है, उस कालमें आत्मा अर्थात् मनसे ही आत्मामें संतुष्ट हुआ स्थिर बुद्धिवाला कहा जाता है अर्थात् मन से आत्म स्वरूप का चिन्तन करते करते उसी में संतुष्ट हुआ साधक जब अन्य सब मनकी कामनाओं का त्याग कर देता है। तब स्थित प्रज्ञ कहा जाता है ॥५५॥ दुःखोंकी प्राप्तिमें उद्वेगरहित है मन जिसका, और सुखों की प्राप्ति में दूर हो गई है इच्छा जिसकी, तथा नष्ट हो गये हैं राग, भय और क्रोध जिसके, ऐसा मुनि 'स्थिर बुद्धि' कहा जाता है ॥५६॥ जो सर्वत्र स्नेहरहित हुआ

उस शुभ तथा अशुभ वस्तुओं को प्राप्त होकर न प्रसन्न होता है और न द्वेष करता है, उसकी बुद्धि स्थिर है ॥ ५७ ॥ और कछुआ अपने अङ्गों को जैसे समेट लेता है, वैसे ही यह जब सब ओर से अपनी इन्द्रियों को इन्द्रियों के विषयों से समेट लेता है, तब उसकी बुद्धि स्थिर होती है ॥ ५८ ॥ विषयों को न ग्रहण करने वाले प्राणी के भी केवल विषय तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु राग नहीं निवृत्त होता । और इसका तो राग भी परमात्मा को साक्षात् करके निवृत्त हो जाता है ॥ ५९ ॥ हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! यत्न करते हुए बुद्धिमान् पुरुष के भी मनको ये प्रबल इन्द्रियाँ बलपूर्वक हर लेती हैं ॥ ६० ॥ उन संपूर्ण इन्द्रियों को वशमें करके एकाग्र चित्त

हो मुझमें मन लगाकर बैठे, क्योंकि जिसकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं, उसकी ही बुद्धि स्थिर होती है ॥ ६१ ॥ विषयों को चिन्तन करने वाले पुरुष की उन विषयोंमें आसक्ति हो जाती है, और आसक्तिसे उन विषयों की कामना उत्पन्न होती है, और कामनामें विघ्न पड़नेसे क्रोध उत्पन्न होता है ॥ ६२ ॥ क्रोधसे अविवेक अर्थात् मृदुभाव उत्पन्न होता है, और अविवेकसे स्मरण शक्ति चलायमान हो जाती है, और स्मृतिके नाशसे बुद्धिका नाश हो जाता है, और बुद्धिके नाश होने से यह पुरुष नष्ट हो जाता है, अर्थात् संसार सागर में डूब जाता है ॥ ६३ ॥ परन्तु मनको वशमें रखने-वाला पुरुष, रागद्वेषसे रहित, अपने वशमें की हुई इन्द्रियाँ

द्वारा विषयोंको भोगता हुआ भी, अन्तःकरण की निर्मलता
 को प्राप्त होता है, अर्थात् उसका अन्तःकरण निर्मल हो
 जाता है ॥ ६४ ॥ उस निर्मल अन्तःकरणके होने पर इसके
 संपूर्ण दुःखोंका अभाव हो जाता है, और उस प्रसन्न चित्त
 वाले पुरुषकी बुद्धि शीघ्र ही अच्छी प्रकार स्थिर हो जाती
 है ॥ ६५ ॥ साधन रहित पुरुषके अन्तःकरणमें श्रेष्ठ बुद्धि
 नहीं होती है, और उस, मुझ में मनका विक्षेप न करने वाले,
 अयुक्त पुरुष के अन्तःकरणमें आस्तिक भाव भी नहीं होता
 है, और बिना आस्तिक भाववाले पुरुषको शान्ति भी नहीं
 होती, फिर शान्तिरहित पुरुषको सुख कैसे हो सकता है ? ॥ ६६ ॥
 क्योंकि जल में वायु नाव को जैसे हर लेता है, वैसे ही विषयों

में विचरती हुई इन्द्रियों के बीचमें जिस इन्द्रिय के साथ मन रहता है, वह एक ही इन्द्रिय इस अयुक्त पुरुषकी बुद्धिको हरण कर लेती है ॥ ६७ ॥ इससे हे महाबाहो ! जिसकी इन्द्रियाँ सब प्रकार इन्द्रियोंके विषयोंसे वशमें की हुई होती हैं, उसकी बुद्धि आत्मामें स्थिर होती है ॥ ६८ ॥ संपूर्ण भूत प्राणियोंके लिये जो आत्म-विषयक बुद्धि, रात्रि के भाँति प्रकाशसे रहित है, उसमें योगी पुरुष जागता अर्थात् आत्म साक्षात्कार करता है, और जिस नाशवान् क्षण-भंगुर सांसारिक सुख में सब भूत प्राणी जागते हैं, वह आत्मदर्शी मुनि के लिये रात्रिके भाँति प्रकाश रहित है ॥ ६९ ॥ जैसे सब ओरसे परिपूर्ण, अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रके प्रति नाना

नदियों के जल, उसको चलायमान न करते हुए ही, समा जाते हैं; वैसे ही जिस स्थिरबुद्धि पुरुषमें संपूर्ण भोग किसी प्रकार का विकार उत्पन्न किये बिना ही समा जाते हैं, वह पुरुष परम शांतिको प्राप्त होता है, न कि भोगों को चाहने वाला ॥७०॥ जो पुरुष संपूर्ण कामनाओं को त्यागकर ममता रहित, अहंकार-रहित, और इच्छा-रहित विचरता है, वह शांति को प्राप्त होता है ॥ ७१॥ हे अर्जुन ! यह ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुष की स्थिति है, इसको प्राप्त होकर वह मोहित नहीं होता है और अन्तकाल में भी इस निष्ठामें स्थित होकर ब्रह्मानन्द को प्राप्त हो जाता है ॥ ७२ ॥

सांख्य- नामका दूसरा अध्याय समाप्त हुआ ।

गीताके तीसरे अध्यायका माहात्म्य

कौशिक वंश में जड़ नाम का एक अधर्मी ब्राह्मण था। वह अपना धर्म-कर्म छोड़कर वैश्यवृत्ति करता था। वह बड़ा दुराचारी, विषयी, जुआरी और शराबी था। सदैव शिकार खेला करता था। जब वह निर्धन हो गया तो चोरी करने लगा। चोरी से कुछ धन जमाकर व्यापार करने के लिये विदेश को चला गया। वहाँ व्यापार की बहुत सी वस्तुएँ खरीदकर जब अपने देश को लौट रहा था, तब मार्ग में चोरों ने उसका सब माल छीन लिया और उसे मार डाला। अपने दुष्कर्मों के फल से वह भयानक प्रेत हुआ, और भूख प्यास से सदैव व्याकुल रहने लगा।

जब बहुत दिन बीत गये और वह लौटकर न आया, उसका पुत्र उसे ढूँढने निकला। मार्ग में अपने पिता की मृत्यु का समाचार सुनकर वह

बड़ा दुखी हुआ । पुत्र बड़ा विद्वान् और धर्मात्मा था । उसने अपने पिता की परलोक क्रिया करनेकी इच्छासे, सब सामग्री लेकर काशी की यात्रा की । मार्गमें चलते-चलते उसी पेड़के नीचे पहुँचा, जहाँ उसके पिता की मृत्यु हुई थी । सन्ध्या हो गई थी, इस लिये वह उसी पेड़के नीचे ठहर गया । सन्ध्योपासन करके वह गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करने लगा । उसी समय उसने देखा कि अपने तेज से सब दिशाओं को प्रकाशित करता हुआ एक सुन्दर विमान आकाश से आया और उसका पिता उस विमान पर बैठ गया । वह पीताम्बर ओढ़े बहुत सी सुन्दरी स्त्रियों के साथ बैठा था, मुनिगण उसकी स्तुति कर रहे थे । उसने पिता को प्रणाम किया और उनका हाल पूछा । पिता ने कहा “बेटा, तुमने गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करके हमारे सब पापों का नाश कर दिया । हम अब वैकुण्ठ जा रहे हैं । तुम अब घर जाओ ।

तुम जिस निमित्त काशी जा रहे थे वह कार्य पूर्ण हो गया।” पुत्र ने पूछा, “पिता जी हम और क्या सेवा कर सकते हैं ?” पिता ने कहा, “बेटा, ! हमारा भाई और हमारे पूर्वज नरक में पड़े हैं, गीता के तीसरे अध्याय का पाठ करके उनका भी उद्धार करो।” पिता यह आज्ञा देकर वैकुण्ठ लोकको चले गये। पुत्र पिताकी आज्ञानुसार गीताके तीसरे अध्यायका पाठ करके नरकगामी पूर्वजोंको मुक्त करने लगा। इस प्रकार उसके सभी पूर्वज वैकुण्ठको प्राप्त हुए। वह भी अपने पुण्यके प्रभावसे अपनी जीवन अवधि पूराकर वैकुण्ठ लोकको गया।

हरिः ॐ तत्सत्

[कर्मयोग नाम तीसरा अध्याय]

अर्जुन ने प्रश्न किया—

हे जनार्दन ! यदि कर्मों की अपेक्षा ज्ञान आपको श्रेष्ठ मान्य है, तो फिर, हे केशव ! मुझे भयङ्कर कर्म में क्यों लगाते हैं ॥ १ ॥ तथा आप मिले हुए से वचन से मेरी बुद्धि को मोहित सी करते हैं, इस लिये उस एक बात को निश्चय करके कहिये जिससे मैं कल्याण को प्राप्त होऊँ ॥ २ ॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पापरहित अर्जुन ! इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा, अर्थात् साधनकी परिपक्व अवस्था, मेरे द्वारा पहले कही गई

है—ज्ञानियों की ज्ञान योग से, योगियों की निष्काम कर्म योग से ॥३॥ मनुष्य न तो कर्मोंके न करने से निष्कर्मताको प्राप्त होता है और न कर्मोंको त्यागने मात्रसे भगवत् साक्षात्कार रूप सिद्धि को प्राप्त होता है ॥४॥ क्योंकि, कोई भी पुरुष किसी काल में क्षण मात्र भी बिना कर्म किये नहीं रहता है । निःसन्देह सब ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न हुए गुणों द्वारा परवश हुए कर्म करते हैं ॥ जो मूढ़बुद्धि पुरुष कर्मेन्द्रियोंको हठसे रोककर, इन्द्रियों के भोगोंको मनसे चिन्तन करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहा जाता है ॥६॥ और हे अर्जुन, जो पुरुष मनसे इन्द्रियोंको वशमें करके आसक्ति रहित हुआ कर्मेन्द्रियोंसे कर्मयोगका आचरण

करता है, वह श्रेष्ठ है ॥ ७ ॥ इसलिये तू शास्त्र से नियत किये हुए स्वधर्म रूप कर्म कर, क्योंकि कर्म न करने की अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है, तथा कर्म न करने से तेरा शरीर-निर्वाह भी नहीं सिद्ध होगा ॥ ८ ॥ यज्ञ अर्थात् विष्णु के निमित्त किये हुए कर्म के सिवाय, अन्य कर्म में लगा हुआ ही, यह मनुष्य कर्मों द्वारा बंध जाता है। इस लिये हे अर्जुन ! आसक्ति से रहित हुआ उस परमेश्वर के निमित्त कर्म का भली प्रकार आचरण कर ॥ ९ ॥ प्रजापति भगवान् नारायण ने पहले यज्ञ सहित प्रजा को रचकर कहा कि इस यज्ञ द्वारा तुम लोग वृद्धि को प्राप्त हो, अर्थात् फूलों फलों, और यह यज्ञ तुम लोगों को इच्छित कामनाओं के देनेवाला होवे ॥ १० ॥ इस यज्ञ

द्वारा तुम देवताओं की आराधना करो और वे देवता लोग तुम्हारा पोषण करें। इस प्रकार एक दूसरेको संतुष्ट करते हुए, तुम दोनों देवता तथा मनुष्य परम कल्याण को प्राप्त होगे ॥ ११ ॥ यज्ञके द्वारा आराधित देवता तुम्हारे लिये प्रिय भोगों को देंगे। उनके द्वारा दिये हुए भोगोंको जो पुरुष उन्हें बिना अर्पण किये भोगता है, वह निश्चय ही चोर है ॥ १२ ॥ यज्ञ से बचे हुए अन्नको खानेवाले सन्त लोग सब पापोंसे छुट जाते हैं, परन्तु जो पापी लोग अपने शरीरपोषण के लिये ही पकाते हैं, वे पापी तो पाप ही खाते हैं ॥ १३ ॥ संपूर्ण प्राणी अन्नसे उत्पन्न होते हैं, अन्न की उत्पत्ति वृष्टिसे होती है, वृष्टि यज्ञसे होती है; यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है ॥ १४ ॥ कम

को ब्रह्मसे उत्पन्न हुआ जान, ब्रह्म अविनाशी परमात्मासे उत्पन्न हुआ है। इससे सर्वव्यापी ब्रह्म सदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित है ॥ १५ ॥ हे पार्थ ! जो पुरुष इस लोक में इस प्रकार चलाये हुए सृष्टि चक्रके अनुसार नहीं वर्तता है, अर्थात् शास्त्रानुसार कर्मों को नहीं करता है, वह इन्द्रियोंके सुखको भोगने वाला पापजीवी पुरुष व्यर्थ ही जीता है ॥ १६ ॥ परन्तु जो मनुष्य आत्मा ही में प्रीतिवाला, आत्मा ही में तृप्त, और आत्मा ही में संतुष्ट हो, उसके लिये कोई कर्तव्य नहीं है ॥ १७ ॥ इस संसार में उस पुरुष का न, करने से ही कोई प्रयोजन है और न, न करने से कोई प्रयोजन है। तथा इसका संपूर्ण भूतों में कुछ भी स्वार्थ का संबन्ध नहीं है ॥ १८ ॥ इससे तू अना-

सक्त हुआ निरंतर कर्तव्य कर्म का अच्छी प्रकार आचरण कर, क्योंकि अनासक्त पुरुष कर्म करता हुआ परमात्माको प्राप्त होता है ॥ १६ ॥ जनकादि ज्ञानीजन भी आसक्ति रहित कर्म द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं । इसलिये लोकसंग्रह को देखता हुआ भी तू कर्म करनेके ही योग्य है ॥ २० ॥ श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी उसके ही अनुसार वर्तते हैं । वह पुरुष जो कुछ प्रमाण कर देता है, संसार भी उसके पीछे चलता है ॥ २१ ॥ हे अर्जुन, यद्यपि मुझे तीनों लोकोंमें कुछ भी कर्तव्य नहीं है, तथा न किसी प्राप्त योग्य वस्तु को प्राप्त ही करना है, तो भी मैं कर्म में ही वर्तता हूँ ॥ २२ ॥ क्योंकि यदि मैं सावधान हुआ कदा-

चित कर्म न करूँ, तो हे अर्जुन ! सब प्रकार से मनुष्य मेरे
वर्ताव के अनुसार वर्तते हैं; अर्थात् वर्तने लग जायँ, अतः वे
भी कर्मों को छोड़ दें। यदि मैं कर्म न करूँ तो यह सब लोक
भ्रष्ट हो जायँ और मैं वर्णसंकर का करनेवाला होऊँ तथा
इस सारी प्रजा को हनन करूँ अर्थात् मारने वाला बनूँ ॥२४॥
हे अर्जुन ! कर्ममें आसक्त हुए अज्ञानीजन जैसे कर्म करते
हैं; वैसे ही अनासक्त हुआ विद्वान्को भी लोगोंकी भलाई
चाहते हुए कर्म करना चाहिए ॥ २५ ॥ ज्ञानी पुरुष को चाहिए
कि कर्मोंमें आसक्तिवाले अज्ञानियों की बुद्धिमें भेद अर्थात्
कर्मोंमें अश्रद्धा उत्पन्न न करे, किन्तु स्वयं योगयुक्त होकर
सब कर्म अच्छी प्रकार करता हुआ उनसे भी वैसे ही

करावे ॥ २६ ॥ संपूर्ण कर्म प्रकृतिके गुणों द्वारा किये हुए हैं, तो भी अहंकारसे मोहित हुआ अन्तःकरण वाला पुरुष 'मैं करता हूँ' ऐसा मान लेता है ॥ २७ ॥ परन्तु, हे अर्जुन ! गुण कर्म विभागके तत्त्व को जानने वाला ज्ञानी पुरुष 'संपूर्ण गुण गुणों में वर्तते हैं' ऐसा मान कर आसक्त नहीं होता है ॥ २८ ॥ प्रकृति के गुणों से मोहित हुए पुरुष गुण और कर्मों में आसक्त होते हैं, उन अच्छी प्रकार न समझने वाले मूर्खों को पूर्ण जाननेवाला ज्ञानीपुरुष चलायमान न करे ॥ २९ ॥ ध्याननिष्ठ चित्तसे संपूर्ण कर्मोंको मुझमें समर्पण करके, आशा रहित और ममता रहित होकर संताप रहित हुआ युद्ध कर ॥ ३० ॥ जो कोई भी मनुष्य निर्दोष

बुद्धिसे और श्रद्धासे सदा ही मेरे इस मतके अनुसार चलते हैं, वे पुरुष संपूर्ण कर्मोंसे छूट जाते हैं ॥३१॥ परन्तु, जो मेरे इस मत में दोष देखते हुए, इसके अनुसार नहीं चलते हैं, उनको तू सर्व ज्ञानसे मृढ़, घोर मूर्ख, नष्ट और चेतना रहित समझ ॥३२॥ सभी प्राणी अपनी प्रकृति की ओर जा रहे हैं। ज्ञानवान भी अपनी प्रकृतिके अनुसार चेष्टा करता है। हठ क्या करेगा ॥ ३३ ॥ इन्द्रिय-इन्द्रिय के विषय में, अर्थात् समस्त इन्द्रियों के भोगोंमें, जो राग द्वेष स्थित हैं, उनके वश में नहीं होना चाहिए, क्योंकि इसके वे दोनों ही कल्याण मार्ग में विघ्न करने वाले महान शत्रु हैं ॥ ३४ ॥ अच्छी प्रकार आचरण किये हुए दूसरेके धर्मसे गुणरहित भी अपना

धर्म अति उत्तम है। अपने धर्ममें मरना भी कल्याण कारक है और दूसरेका धर्म भयका देनेवाला है ॥३५॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! फिर यह पुरुष बलपूर्वक लगाये हुएके सदृश न चाहता हुआ भी किससे प्रेरित होकर पापका आचरण करता है ॥ ३६ ॥

श्री भगवान् बोले—

रजोगुणसे उत्पन्न हुआ यह काम ही क्रोध है, यह बहुत खानेवाला और बड़ा पापी है। इस विषय में इसको ही तू वैरी जान ॥ ३७ ॥ जैसे धूँएँसे अग्नि और मलसे दर्पण ढक

जाता है, तथा जैसे भिल्लीसे गर्भ ढका रहता है, वैसे ही उस कामके द्वारा यह ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३८ ॥ और हे अर्जुन ! इस नित्य वैरी, बड़ी कठिनतासे तृप्त होनेवाले कामरूप अग्निसे यह ज्ञान ढका हुआ है ॥ ३९ ॥ इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस काम के वास स्थान कहे जाते हैं, और यह काम इन तीनों के द्वारा ही ज्ञानको ढक कर जीवात्माको मोहित करता है ॥ ४० ॥ इसलिये हे अर्जुन ! तू पहले इन्द्रियों को वशमें करके, ज्ञान और विज्ञानको नाश करनेवाले इस पापी कामको निश्चय पूर्वक मार ॥ ४१ ॥ इन्द्रियों को प्रबल कहते हैं, इन्द्रियोंसे प्रबल मन है, मनसे प्रबल बुद्धि है, और जो बुद्धिसे भी अत्यन्त प्रबल है वह काम है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार इस दुर्विजय काम रूप शत्रुको बुद्धिसे भी प्रबल जानकर, हे अर्जुन ! बुद्धि से मन को वशमें करके, तू इसे मार ॥४३॥

कर्मयोग नाम का तीसरा अध्याय समाप्त



चौथे अध्याय का माहात्म्य

काशीपुरी में एक आत्मज्ञानी तपस्वी रहते थे। वे एक दिन नगरके बाहर निकले। एक स्थान पर दो बेर के पेड़ पास ही पास लगे थे। उनके नीचे बैठकर तपस्वी ने गीता के चौथे अध्याय का पाठ किया और सो गये। थोड़ी देर सो कर मुनि जागे और अपने स्थानको चले गये। वे पेड़ सूखकर गिर गये। वे दोनों पेड़ एक ब्राह्मण के घर में कन्या रूप से जन्में। जब कन्यायें सात वर्ष की हुई, उन्होंने एक दिन उन्हीं मुनि को देखा, उन्होंने प्रणाम किया और कहा, “हे तपस्वी ! आपकी कृपासे हम दोनों वृक्षयोनि से छूटकर मनुष्य योनिको प्राप्त हुए हैं।” मुनि को बड़ा आश्चर्य हुआ। कन्याओंने सब वृत्तान्त बताया। और चौथे अध्याय के पाठ का पुण्य बताया। मुनि के पूछने पर अपने पूर्व जन्म का वृत्तान्त इस प्रकार बताया। हम दोनों इन्द्र की अप्सरा हैं। एक बार गोदावरीके किनारे छिन्नपाद तीर्थ

पर सत्यतपा नामके महर्षि तपस्या करते थे। उनकी तपस्यासे घबड़ाकर इन्द्रने हमको उनकी तपस्या में विघ्न डालनेको भेजा। हमने गीत वाद्य हाव भावसे मुनिको रिझानेका प्रयत्न किया पर उनका मन न डिंगा। जब उनका ध्यान टूटा और उन्होंने हमें देखा तो हमको श्राप दिया कि तुम दोनों बेरके पेड़ हो जाओ। हमने हाथ जोड़कर उनसे अपराधकी क्षमा माँगी यह कहकर कि हम तो पराधीन हैं। मुनि ने प्रसन्न होकर कहा, “अच्छा, श्राप तो झूठा हो नहीं सकता। किन्तु भरत नाम के एक महर्षिसे जब तुम वृक्षरूप में गीताके चौथे अध्यायका पाठ सुनोगी, तब तुम्हारे श्राप का अंत होगा।” यह कहकर कन्याओंने भरत मुनिकी पूजा की। तब मुनि अपने स्थान को चले गये और कन्यायें गीताके चौथे अध्यायका पाठ करने लगीं। शरीर छूटने पर वे दोनों कन्यायें स्वर्ग लोक को गईं।

हरिः ॐ तत्सत्

[ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नाम चौथा अध्याय]

श्रीभगवान् बोले—

मैंने इस अविनाशी योगको कल्पके आदिमें सूर्यके प्रति कहा था, और सूर्यने अपने पुत्र मनुके प्रति कहा, और मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकुके प्रति कहा ॥१॥ इस प्रकार परम्परासे प्राप्त हुए इस योगको राजर्षियोंने जाना । परन्तु हे परंतप अर्जुन ! वह योग बहुत कालसे इस लोकमें नष्ट हो गया ॥ २ ॥ यह ही वह पुरातन योग अब मैंने तेरे लिये वर्णन किया है, क्योंकि तू मेरा भक्त और सखा है । यह योग बहुत उत्तम रहस्य अर्थात् गोपनीय ज्ञान है ॥ ३ ॥

अर्जुन बोले—

आपका जन्म तो अब हुआ है और सूर्यका जन्म बहुत पहलका है; इसलिये, इस योगको आदिमें आपने कहा था, यह मैं कैसे जानूँ ॥ ४ ॥

श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! मेरे और तेरे बहुत से जन्म हो चुके हैं । परन्तु हे परंतप अर्जुन ! उन सबको तू नहीं जानता है और मैं जानता हूँ ॥ ५ ॥ मैं अजन्मा, अविनाशी स्वरूप, सब भूत प्राणियोंका ईश्वर होने पर भी, अपनी प्रकृतिको आधीन करके अपनी मायासे प्रकट होता हूँ ॥ ६ ॥ हे अर्जुन ! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब ही

मैं अपने रूपको रचता हूँ अर्थात् प्रकट करता हूँ ॥ ७ ॥
 साधु पुरुषोंका उद्धार करनेके लिये और दुष्ट कर्म करने-
 वालों का नाश करनेके लिये, तथा धर्मको स्थापन करनेके
 लिये युग-युगमें मैं प्रकट होता हूँ ॥ ८ ॥ हे अर्जुन ! मेरा जन्म
 और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक है, इस प्रकार जो पुरुष
 तत्त्वसे जानता है, वह शरीरको त्याग कर फिर जन्मको
 नहीं प्राप्त होता है, किन्तु मुझे ही प्राप्त होता है ॥ ९ ॥ राग,
 भय, और क्रोध से रहित, अनन्य भाव से मेरे में स्थित, मेरे
 शरण हुए बहुत से पुरुष, ज्ञानरूपतप से पवित्र हुए, मेरे स्वरूप
 को प्राप्त हो चुके हैं ॥ १० ॥ हे अर्जुन ! जो मुझको जैसे भजते
 हैं, मैं भी उनको वैसे ही भजता हूँ । बुद्धिमान् मनुष्य सब

प्रकार से मेरे मार्ग पर चलते हैं ॥११॥ सकाम मनुष्य कर्मोंके फलको चाहते हुए देवताओं को पूजते हैं, क्योंकि इस मनुष्य-लोक में कर्मोंसे उत्पन्न हुई सिद्धि शीघ्र होती है ॥ १२ ॥ गुण कर्मके विभाग से चारों वर्ण-ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य, शूद्र -मेरे द्वारा रचे गये हैं। उनके कर्ता होनेपर भी मुझ अविनाशी ईश्वरको तू अकर्ता ही जान ॥ १३ ॥ न तो मुझे कर्म लिप्त करते हैं, और न मुझे कर्मफलमें इच्छा है। इस प्रकार जो मुझको भली भाँति जानता है, वह भी कर्मोंसे नहीं बँधता है ॥ १४ ॥ पहले मोक्ष चाहनेवाले पुरुषों के द्वारा भी इस प्रकार जानकर ही कर्म किया गया है। इससे तू भी पूर्वजों द्वारा पूर्वकालमें किये हुए कर्मको ही कर ॥ १५ ॥ कर्म

क्या है, अकर्म क्या है, ऐसे इस विषय में बुद्धिमान् पुरुष भी मोहित हैं। इसलिए मैं वह कर्म तेरे लिये अच्छी प्रकार कहूँगा, जिसको जानकर तू अशुभ अर्थात् संसारबंधन से छुट जायगा ॥ १६ ॥ इस कर्म का स्वरूप भी जानना चाहिये, विकर्म भी जानना चाहिये, और अकर्म भी जानना चाहिये, क्योंकि कर्म की गति गहन है ॥ १७ ॥ जो पुरुष कर्ममें अकर्म अर्थात् आत्मज्ञान, और अकर्म में कर्म देखे, वह मनुष्योंमें बुद्धिमान् है और वही योगी तथा सब कर्मों को करनेवाला है ॥ १८ ॥ जिसके समस्त कार्य कामना और संकल्प से रहित हैं, उस ज्ञानरूप अग्नि द्वारा भस्म हुए कर्मोंवाले पुरुषको ज्ञानीजन भी पंडित कहते हैं ॥ १९ ॥ जो

पुरुष कर्मफलकी आसक्तिको त्याग कर नित्य आत्मामें
 तृप्त है और प्रकृति के आश्रय से रहित है, वह पुरुष
 भली भाँति प्रवृत्त हुआ भी कुछ भी नहीं करता ॥ २० ॥
 आशा अर्थात् फलासक्ति रहित, जीते हुए चित्त और मन-
 वाला, सब भोगों की सामग्री का त्यागी पुरुष केवल शरीर
 सम्बन्धी कर्म करता हुआ भी पाप को प्राप्त नहीं होता ॥ २१ ॥
 अपने आप जो कुछ प्राप्त हो जाय उसमें ही संतुष्ट रहने-
 वाला, और हर्ष शोक आदि द्वन्द्वोंसे अलग हुआ, तथा
 ईर्ष्यासे रहित, सिद्धि और असिद्धिमें सम भाव वाला पुरुष
 कर्मोंको करके भी नहीं बँधता है ॥ २२ ॥ आसक्तिसे रहित,
 मुक्त, आत्मज्ञानमें स्थित चित्तवाले, और यज्ञ के लिये कर्मा-

चरण करनेवाले पुरुषके संपूर्ण कर्म नष्ट होजाते हैं ॥ २३ ॥
 अर्पण, अर्थात् सुवा आदि, ब्रह्म है, हवि ब्रह्म है, ब्रह्मरूप
 अग्निमें ब्रह्मरूप कर्ताके द्वारा जो हवन किया गया है
 वह भी ब्रह्म है । इसलिये ब्रह्मरूप कर्ममें समाधिस्थ हुए
 पुरुष द्वारा जो प्राप्त होने योग्य है, वह भी ब्रह्म ही है ॥ २४ ॥
 दूसरे कर्मयोगी, देव पूजनरूप यज्ञको ही भली भाँति
 उपासना करते हैं; और दूसरे योगीजन ब्रह्मरूप अग्नि में
 यज्ञ के द्वारा ही यज्ञ का हवन करते हैं, अर्थात् यज्ञ स्वरूप
 ब्रह्मात्मक घृतादि पदार्थों को यज्ञ साधनरूप सुवा आदि
 से होमते हैं ॥ २५ ॥ अन्य कर्म योगी कान आदि सब
 इन्द्रियों को संयमरूप अग्निमें हवन करते हैं अर्थात्

इन्द्रियों को विषयों से रोक कर अपने वश में कर लेते हैं; और दूसरे योगी लोग शब्दादिक विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् इन्द्रियों की शब्दादि विषय-परायणता को रोकनेका प्रयत्न करते हैं ॥ २६ ॥ दूसरे योगीजन संपूर्ण इन्द्रियोंके कर्मोंको और प्राणोंके कर्मोंको ज्ञानसे प्रकाशित हुई आत्मसंयम रूपी योगाग्निमें हवन करते हैं, अर्थात् मन से इन्द्रियों और प्राणोंकी कर्मपरायणता को रोकनेका प्रयत्न करते हैं ॥ २७ ॥ दूसरे कर्मयोगी द्रव्ययज्ञ करने वाले होते हैं अर्थात् न्याय से धनोपार्जन करके द्रव्य को देवार्चन में, दान में, यज्ञों में, होम में, लगाने का प्रयत्न करते हैं; कितने ही तप-यज्ञ करनेवाले हैं अर्थात् कृच्छ्र-

चान्द्रायण उपवास आदि में निष्ठा करते हैं; कितने ही स्वा-
ध्याय के अभ्यास में लगे रहते हैं, कितने ही उसके अर्थ
ज्ञान के अभ्यास में लगे रहते हैं। ये सभी यत्नशील और
दृढ़ संकल्प होते हैं ॥ २८ ॥ और दूसरे योगीजन अपान-
वायु में प्राणवायु को हवन करते हैं; अन्य योगीजन प्राण-
वायु में अपानवायु को हवन करते हैं; तथा अन्य योगीजन
प्राण और अपान की गति को रोक कर प्राणायाम में लग
जाते हैं ॥ २९ ॥ दूसरे नियमित आहार करने वाले योगीजन
प्राणों को प्राणों में ही हवन करते हैं। ये सब ही पुरुष यज्ञों
को जाननेवाले हैं और यज्ञों द्वारा पापों का नाश कर डाल-
ने वाले हैं ॥ ३० ॥ यज्ञ से बचे हुए अप्रत को खानेवाले कर्म

योगी सनातन ब्रह्म को प्राप्त होते हैं। हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन ! यज्ञरहित पुरुषको यह मनुष्यलोक ही सुखदायक नहीं है, तब दूसरे परलोक की तो बात ही कहाँ ॥ ३१ ॥ इस तरह बहुत प्रकार के कर्मयोग यज्ञ ब्रह्मके मुखमें विस्तृत हैं। उन सबको कर्म से उत्पन्न हुए जान। इस प्रकार जानकर तू मुक्त हो जावेगा ॥ ३२ ॥ हे परंतप अर्जुन ! हव्यमय यज्ञकी अपेक्षा ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ हैं। हे पार्थ ! सब कर्म पूर्णतया ज्ञानमें समाप्त होते हैं ॥ ३३ ॥ उस ज्ञानको तू तत्त्वदर्शी ज्ञानियों से दण्डवत प्रणाम करनेसे, जिज्ञासुभावसे प्रश्न करनेसे, और सेवा करनेसे जान। वे तत्त्वको जानने वाले ज्ञानीजन तुझे उस ज्ञानका उपदेश करेंगे ॥ ३४ ॥ जिसको जानकर तू फिर इस

प्रकार मोहको न प्राप्त होगा; और हे अर्जुन ! जिससे सब भूत प्राणियोंको पहले अपने आत्मामें और फिर मुझमें देखेगा ॥ ३५ ॥ यदि तू सब पापियोंसे भी अधिक पाप करने वाला है, तो भी ज्ञान रूपी नौका द्वारा सब पापों को अच्छी प्रकार तर जायगा ॥ ३६ ॥ हे अर्जुन ! जैसे जलती हुई अग्नि ईंधन को भस्ममय कर देता है, वैसेही ज्ञानरूप अग्नि संपूर्ण कर्मोंको भस्ममय कर देता है ॥ ३७ ॥ इस संसारमें ज्ञानके समान पवित्र करनेवाला निःसंदेह कुछ भी नहीं है। योग के द्वारा सिद्ध होकर पुरुष समय पाकर उसे स्वयं आत्मा ही में पा लेता है ॥ ३८ ॥ श्रद्धावान्, तत्पर, एवं जितेन्द्रिय पुरुष ज्ञान को पाता है; और ज्ञानको पाकर फिर तुरंत ही परम

शांतिको प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ अज्ञानी और श्रद्धा रहित संशयात्मा मनुष्य नष्ट हो जाता है। उस संशययुक्त पुरुष के लिये न तो सुख है, न यह लोक है, न परलोक है ॥ ४० ॥ योगके द्वारा त्यागे हुए कर्मोंवाले, ज्ञानके द्वारा कहे हुए संशयोंवाले और आत्मवान् पुरुषको, हे धनञ्जय अर्जुन ! कर्म नहीं बाँधते ॥ ४१ ॥ इसलिये अज्ञानसे उत्पन्न हृदयमें स्थित इस संशयको आत्मज्ञानरूप खड्गके द्वारा काटकर, हे भारत ! तू कर्मयोगमें लग जा और उठ खड़ा हो ॥ ४२ ॥

ज्ञानकर्मसंन्यासयोग नाम चौथा अध्याय समाप्त

पाँचवें अध्याय का माहात्म्य

पुरुकुत्स नामके नगरमें पिंगल नामका एक दुराचारी ब्राह्मण रहता था। वह ब्राह्मणयोग्य कर्मोंको छोड़कर मृदंग आदि बाजे बजाता, गाता और नाचा करता था। उसकी स्त्री अरुणा भी व्यभिचारिणी थी। उसने एक दिन आधीरातको अपने पतिको मार डाला। पिंगलने अपने पापोंसे नरकोंके क्लेश भोगकर बनमें गिद्धका जन्म लिया। अरुणा भी भगंदर रोग से मृत्यु पाकर नरकको गई। अन्तमें उसी बनमें उसने भी मुर्गीका जन्म लिया। गिद्धने पूर्वजन्मकी शत्रुताको याद कर उस मुर्गी को मार डाला। वह मरकर संयोगवश एक मनुष्यकी खोपड़ी पर गिरी। उसी समय गिद्ध भी किसी बहेलियेके जालमें फँस कर मर गया, और उसकी भी हड्डियाँ उसी मनुष्यकी खोपड़ी पर गिरीं। यमराजके दूत दोनोंको

यमराजके पास ले गये । यमराजने कहा, “यद्यपि तुम दोनों ने पूर्वजन्मों में बड़े पाप किये हैं, किन्तु तुम्हारी हड्डियों का संपर्क एक ब्रह्मज्ञानी योगी की खोपड़ी से होगया है, इसलिये तुम दोनों पवित्र हो गये हो । अब तुम वैकुण्ठलोक को जाओ । यह ब्रह्मज्ञानी गीताके पाँचवें अध्यायका नित्य पाठ करता था जिससे मोक्ष को प्राप्त हुआ था ।



हरिः ॐ तत्सत्

[कर्मसंन्यासयोग नाम पाँचवाँ अध्याय]

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! आप कभी कर्मोंके संन्यास अर्थात् ज्ञानयोग की और फिर निष्काम कर्मयोग की प्रशंसा करते हैं । इन दोनों में एक जो अच्छी तरह निश्चित किया हुआ कल्याण कारक होवे, वह मुझसे कहिये ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—

संन्यास अर्थात् ज्ञानयोग और निष्काम कर्मयोग दोनों ही परम कल्याण के करनेवाले हैं । परन्तु उन दोनोंमें कर्मों के संन्याससे कर्मयोग श्रेष्ठ है ॥ २ ॥ हे अर्जुन ! जो पुरुष न

द्वेष करता है और न आकांक्षा करता है, वह निष्काम कर्म-योगी नित्य संन्यासी समझने योग्य है, क्योंकि रागद्वेष आदि द्वन्द्वों से रहित हुआ पुरुष सुखपूर्वक संसार रूप बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ ३ ॥ संन्यास और निष्काम कर्मयोग को मूर्ख लोग अलग-अलग फलवाले कहते हैं, परिदृष्ट लोग नहीं। एकमें भी अच्छी प्रकार स्थित हुआ पुरुष दोनों के फलरूप परमात्मा को पा लेता है ॥ ४ ॥ ज्ञानयोगियों के द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, निष्काम कर्मयोगियों द्वारा भी वही प्राप्त किया जाता है। जो पुरुष ज्ञानयोग और कर्मयोग को एक देखता है, वही यथार्थ देखता है ॥ ५ ॥ परन्तु हे अर्जुन ! निष्काम कर्मयोग के बिना संन्यास प्राप्त होना कठिन है।

निष्काम कर्मयोगी मुनि ब्रह्मको शीघ्र ही प्राप्त हो जाता है ॥६॥
 कर्मयोगसे युक्त, विशुद्ध अंतःकरणवाला, मन पर विजय पाया
 हुआ, इन्द्रियों का विजयी, समस्त भूत प्राणियों के आत्मा को
 अपना आत्मा समझनेवाला, परमात्मा की आराधनारूप
 विशुद्ध कर्म करता हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ७ ॥ तत्त्व को
 जाननेवाला देखता हुआ, सुनता हुआ, स्पर्श करता हुआ,
 सूँघता हुआ, भोजन करता हुआ, गमन करता हुआ, सोता
 हुआ, श्वास लेता हुआ ॥ ८ ॥ बोलता हुआ, त्यागता हुआ, ग्रहण
 करता हुआ, आँखों को खोलता और मींचता हुआ भी 'सब
 इन्द्रियाँ अपने अपने काम में लग रही हैं' इस प्रकार समझता
 हुआ, निःसंदेह ऐसा समझे कि 'मैं कुछ नहीं करता हूँ' ॥ ९ ॥

जो पुरुष सब कर्मोंको परमात्मा में अर्पण करके, आसक्तिको छोड़कर कर्म करता है, वह पुरुष पापसे वैसे ही लिप्त नहीं होता जैसे जलसे कमलका पत्ता ॥ १० ॥ निष्काम कर्मयोगी आसक्तिको त्यागकर, अंतःकरणकी शुद्धिके लिये शरीर, मन, बुद्धि और केवल इन्द्रियोंसे भी कर्म करते हैं ॥ ११ ॥ निष्काम कर्मयोगी कर्मफलको त्यागकर नैष्ठिकी अर्थात् आत्मानुभव रूप शांतिको प्राप्त होता है । और सकामी पुरुष फलमें आसक्त हुआ कामनाके द्वारा बँधता है ॥ १२ ॥ अपनेको वशमें रखनेवाला पुरुष तो, निःसन्देह न करता हुआ, न करवाता हुआ, न बंधारोंवाले शरीररूप घरमें सब कर्मोंको मन से त्यागकर, सुखपूर्वक स्थित रहता है ॥ १३ ॥ परमेश्वर भी

लोक अर्थात् भूत प्राणियोंके न कर्तापन को, न कर्मों को, और न कर्मोंके फलके संयोगको रचता है, किंतु इन सबमें स्वभावही प्रवृत्त होता है अर्थात् गुण ही गुणोंमें वर्त रहे हैं ॥१४॥ सर्वव्यापी परमात्मा न किसीके पापकर्मको और न किसीके शुभकर्मको ग्रहण करता है । किन्तु अज्ञानसे ज्ञान ढका हुआ है, इससे सब जीव मोहित हो रहें ॥१५॥ परन्तु जिनका वह अन्तःकरणका अज्ञान आत्मज्ञान द्वारा नाश हो गया है, उनका ज्ञान सूर्यके सदृश उस परमात्माको प्रकाशता है ॥ १६ ॥ उस आत्मामें बुद्धिवाले, उसी में मनवाले, उसी में निष्ठावाले, और उसी में परायण रहनेवाले, ज्ञान के द्वारा धुले हुए पापोंवाले पुरुष आत्माको प्राप्त होते हैं ॥ १७ ॥ ज्ञानी

जन, विद्या और विनययुक्त ब्राह्मणमें, तथा गौ, हाथी, कुत्ते और चाण्डालमें भी एकसा देखने वाले होते हैं ॥१८॥ जिनका मन समतामें स्थित है, उनसे यहीं अर्थात् इस जीवित अवस्था में ही संसार जीत लिया गया है; क्योंकि ब्रह्म निर्दोष और सम है, इसलिये वे ब्रह्म में स्थित हैं ॥१९॥ प्रिय वस्तुको प्राप्त कर हर्षित न हो, और अप्रिय वस्तुको प्राप्त कर उद्वेग न करे, ऐसा स्थिर बुद्धि, संशय रहित, ब्रह्मवेत्ता पुरुष परमात्मा में नित्य स्थित है ॥२०॥ बाहरके विषयों में आसक्ति-रहित मन-वाला पुरुष जब आत्मा ही में सुख प्राप्त करता है, तब वह ब्रह्मयोगयुक्त मनवाला होकर अक्षय ब्रह्मानुभव रूप सुखको भोगता है ॥२१॥ जो इन्द्रिय तथा विषयोंके संयोगसे उत्पन्न

होने वाले भोग हैं, वे निःसंदेह दुःखके ही हेतु हैं, और आदि अंतवाले अर्थात् अनित्य हैं। हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन! बुद्धिमान पुरुष उनमें नहीं रमता ॥२२॥ जो शरीर छूटने के पहले यहाँ ही कामक्रोधसे उत्पन्न वाले वेग को सहन करने में समर्थ होता है, वह मनुष्य इस लोक में योगी है और वही सुखी है ॥२३॥ जो पुरुष निश्चय करके अन्तरात्मामें सुखवाला है, अन्तर आत्मा ही में रमण करनेवाला है, और अन्तर आत्मा ही में ज्ञानवाला है; ऐसा वह ब्रह्मस्वरूप हुआ योगी ब्रह्म निर्वाण अर्थात् आत्मानुभव रूप सुख को प्राप्त होता है ॥२४॥ द्वन्द्वों से छूटे हुए, आत्मा ही में मन को लगाये रखनेवाले, सब भूत प्राणियों के हित में लगे हुए, और पापोंका क्षय कर चुके हुए

ऋषि लोग ब्रह्मनिवाणको प्राप्त होते हैं ॥२५॥ काम क्रोध से रहित, यत्नशील, संयमित चित्त वाले एवं जीते हुए चित्तवाले पुरुषों के लिये सब ओरसे ब्रह्म निर्वाण प्राप्त रहता है ॥ २६ ॥ बाहरके विषयभोगों को बाहर ही त्यागकर और नेत्रों की दृष्टि को भृकुटीके बीचमें स्थित करके नासिकामें विचरने वाले प्राण और अपान वायुको सम करके ॥२७॥ इन्द्रिय-मन-बुद्धि को वशमें करने वाला मोक्ष परायण मुनि, जो इच्छा, भय और क्रोधसे रहित है, वह ही सदा मुक्त है ॥२८॥ मुझको यज्ञ-तपोंका भोक्ता, सब लोकोंको महान् ईश्वर और सब प्राणियों का स्वार्थ रहित प्रेमी जानकर शान्तिको प्राप्त होता है ॥२९॥

कर्म संन्यासयोग नाम का पाँचवाँ अध्याय समाप्त

छठवें अध्याय का माहात्म्य

गोदावरी नदी के किनारे प्रतिष्ठानपुर नाम का एक नगर था। वहाँ ज्ञानश्रुति नाम का राजा राज्य करता था। यह राजा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष चारों पदार्थों का जानने वाला और बड़ा धर्मात्मा था। अपनी प्रजा का पालन पुत्रकी तरह करता था। यज्ञोंका अनुष्ठान, और साधु महात्माओं का पूजन करता था और ब्राह्मणोंको भोजन नित्य देता था। उसके धर्म कार्यों की संसार में ख्याति थी।

एक दिन हंसों का झुन्ड उसके नगर में आकाश में उड़ता हुआ दिखाई दिया। हंसों की पंक्ति में सबसे पीछे वाले हंस ने कहा, “यह परमधर्मात्मा ज्ञानश्रुति की राजधानी है। यह राजा अपने पुण्यप्रताप से जगत में विख्यात है।” पंक्ति में आगे वाले हंसों ने हँस कर उत्तर दिया, “तुमको पता

नहीं कि ब्रह्मवादी रैक्य का तेज इस राजा से भी बढ़कर है” । हंसों की ये बातें राजा ज्ञानश्रुति सुन रहे थे । महात्मा रैक्यके दर्शनोंके लिये राजा ज्ञानश्रुति उनको ढूँढ़ने के लिये निकल पड़े । केवल नाम मालूम था और कुछ पता न मालूम था । अतएव सभी तीर्थ—काशी, गया, उज्जैन आदि में ढूँढ़ते-ढूँढ़ते काश्मीर देश में पहुँचे । माणिक्येश्वर नाम महादेव के स्थान पर रैक्य मुनिके दर्शन हुए । राजा उनको साष्टांग प्रणाम कर बोले, “महाराज ! आपकी परम कीर्ति सुनकर, अनेक देशों में ढूँढ़ता हुआ मैं यहाँ आया हूँ । कृपा करके बताइये कि किस पुण्यसे आपकी महिमा इतनी फैल रही है ?” महर्षि रैक्यने उत्तर दिया, “राजन् ! मैं प्रतिदिन गीता के छठवें अध्यायका पाठ करता हूँ, उसीके प्रतापसे मेरा तेज देवताओंको भी दुस्सह होगया है ।”

यह सुनकर राजा ज्ञानश्रुति भी छठवें अध्याय का पाठ करने का निश्चय

करके अपनी राजधानी को लौट आये । अब नित्य प्रति छठवें अध्याय का पाठ करने लगे । उसी के प्रभाव से इस असार संसार को त्यागकर वैकुण्ठ-धाम को गये ॥

हरिः ॐ तत्सत्

[आत्मसंयम नाम ष्ठा अध्याय]

श्री भगवान् बोले—

जो पुरुष स्वर्गादि कर्मके फलोंका आश्रय न लेकर कर्तव्य समझकर कर्म करता है, वह संन्यासी और योगी है। न कि अग्नि रहित संन्यासी और क्रिया रहित पुरुष ॥ १ ॥ हे पांडुनंदन ! जिसको संन्यास अर्थात् ज्ञानयोग ऐसा कहते हैं, उसी को तू योग अर्थात् कर्मयोग जान। क्योंकि संकल्पों का त्याग न करने वाला कोई पुरुष योगी नहीं होता ॥ २ ॥ योगारूढ़ होनेकी इच्छावाले मुनि के लिये कर्म कारण कहा जाता है। उस योगारूढ़ पुरुषके लिये शम अर्थात् कर्म की

निवृत्ति ही कारण कहा जाता है ॥३॥ जब योगी पुरुष न तो इन्द्रियोंके अर्थोंमें और न कर्मोंमें ही आसक्त होता है, तब वह संकल्पोंके त्यागनेवाला योगारूढ़ कहा जाता है ॥४॥ मनुष्य आत्मा अर्थात् मनसे आत्मा का उद्धार करे, आत्मा को नीचे न गिरावे; क्योंकि मन ही आत्मा का बन्धु है और मन ही आत्मा का शत्रु है ॥ ५ ॥ जिसने आत्मा के द्वारा मन को जीत लिया है, निश्चय उसका मन उसका बन्धु है; किन्तु जिसने अपने मन को नहीं जीता है, उसका मन शत्रु की भाँति शत्रुता ही में वर्तता है ॥ ६ ॥ सर्दी-गर्मी, सुख-दुख और मान-अपमान में जिसका मन जीता हुआ है अत्यन्त शान्त पुरुष के मन में परमात्मा सब प्रकार से स्थित

है ॥७॥ जिसका मन ज्ञान विज्ञान से तृप्त है, जो एका-कारता रूप आत्मामें स्थित रहता है अर्थात् विकारसे रहित है और जो विजितेन्द्रिय है, और मिट्टीके ढेले, पत्थर और सुवर्ण में जिसकी एकसी बुद्धि है, जो ऐसा कर्मयोगी है, वह युक्त कहा जाता है अर्थात् आत्मसाक्षात्कार रूप योगाभ्यास का अधिकारी कहा जाता है ॥ ८ ॥ जो पुरुष सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेषी और बन्धुओंमें तथा साधुओं और पापियोंमें भी समबुद्धि है, वह अतिश्रेष्ठ है ॥ ९ ॥ चित्त और मन को वशमें कर लेनेवाला योगी एकान्तमें अकेला स्थित होकर, तथा आशा और संग्रहसे रहित होकर अपने आप को निरन्तर आत्मामें युक्त करै ॥ १० ॥ शुद्ध स्थानमें, न अत्यन्त ऊँचा, न

अत्यन्त नीचा अपना स्थिर आसन स्थापित करके उस पर
 वस्त्र, मृगछाला और कुशा, एकके ऊपर एक बिछाकर ॥११॥
 उस आसन पर बैठकर, चित्त और इन्द्रियों की क्रियाओं को
 रोककर, मन को एकाग्र करके, आत्म शुद्धिके लिये योग का
 साधन करै ॥१२॥ शरीर, शिर, और गलेको सम, अचल एवं
 स्थिरता पूर्वक धारण करके, अन्य दिशाओं को न देखता
 हुआ, अपनी नासिकाके अग्रभाग को देखकर ॥१३॥ अच्छी
 प्रकार शान्त अंतःकरण वाला, भयरहित, और ब्रह्मचर्य के व्रत
 में स्थित होकर, मनको रोककर, मुझमें चित्त लगाकर, साव-
 धान, एवं मेरे परायण होकर बैठे ॥१४॥ इस प्रकार सदा मनको
 मुझमें जोड़ता हुआ, निश्चल मनवाला, योगी, मुझमें स्थित,

निर्वाणकी पराकाष्ठारूप शान्तिको अर्थात् परमसुखको प्राप्त होता है ॥ १५ ॥ हे अर्जुन! यह योग न अति भोजन करनेवाले का, न बिलकुल भोजन न करनेवाले का, न अति सोनेके स्वभाववाले का, और न अधिक जागने वाले का ही, सिद्ध होता है ॥ १६ ॥ दुःखोंका, नाश करनेवाला योग तो नियमित आहार-विहार वालेका, कर्मोंमें नियमित चेष्टा करनेवाले का, और नियमित सोने तथा जागनेवाले का ही सिद्ध होता है ॥ १७ ॥ जब अत्यन्त वशमें किया हुआ चित्त आत्मा ही में स्थित होता है, तब वह समस्त योगोंसे निःस्पृह हुआ योगी युक्त कहलाता है, योग का अधिकारी है ऐसा कहा जाता है ॥ १८ ॥ जैसे वायुरहित स्थानमें रक्खा हुआ दीपक हिलता डोलता

नहीं है, वही उपमा आत्म विषयक योगमें लगे हुए संयत चित्त योगी के आत्म स्वरूप की कही गई है; [अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार वायुरहित स्थानमें रखे होनेके कारण दीपक निश्चल और प्रकाशयुक्त रहता है, वैसे ही अन्य समस्त वृत्तियोंके निवृत्त हो जानेसे आत्मा निश्चल और ज्ञान के प्रकाशसे युक्त स्थित हो जाता है] ॥१६॥ जिस अवस्था में योगके अभ्याससे सर्वथा निरुद्धचित्त उपराम हो जाता है, और जिस अवस्था में वह मन से आत्मा को ही देखता हुआ आत्मा ही में सन्तुष्ट हो जाता है ॥ २० ॥ ऐसा जो इन्द्रियोंसे अतीत और बुद्धिग्राह्य आत्यंतिक सुख है, उसको जिस योगमें वह जानता है, और जिस योगमें स्थित हुआ

वह फिर तत्त्वसे विचलित नहीं होता, ॥२१॥ और जिस योग को पाकर उससे अधिक कोई लाभ नहीं समझता और जिस में स्थित हुआ वह बड़े भारी दुःखसे भी विचलित नहीं होता, ॥२२॥ उस दुःख संयोगके वियोगको 'योग' नामवाला जाने। वह योग निश्चयपूर्वक हर्षितचित्तसे अभ्यास किये जाने योग्य है ॥२३॥ संकल्पसे उत्पन्न होनेवाले सब भोगोंको त्याग कर मनके द्वारा इन्द्रियसमूह को सब ओरसे अच्छी तरह रोककर, ॥२४॥ धैर्ययुक्त बुद्धिसे धीरे-धीरे उपरामताको प्राप्त होवे और मनको आत्मामें स्थित करके और कुछ भी चिन्तन न करे ॥२५॥ वह चञ्चल और अस्थिर मन जिस जिसमें जाय, उस उससे हटा कर उसे आत्मामें ही वश

करे ॥ २६ ॥ क्योंकि अच्छी प्रकार इस शान्तमन, रजोगुण रहित, निष्पाप, और ब्रह्म रूप योगी को अति उत्तम सुख प्राप्त होता है ॥ २७ ॥ वह पांपरहित योगी इस प्रकार मन को सदा आत्मामें लगाता हुआ ब्रह्मानुभवरूप अत्यन्त सुख को भोगता है ॥ २८ ॥ वह योगसे युक्त हुए आत्मावाला, सब में समभाव से देखने वाला योगी सब प्राणियोंमें आत्माको और सब प्राणियोंको आत्मामें स्थित देखता है ॥ २९ ॥ जो सब जगह मुझको और सबको मुझमें देखता है, उसके लिये मैं अदृश्य नहीं होता और वह मेरे लिये अदृश्य नहीं होता ॥ ३० ॥ जो योगी एकत्वभावमें स्थित होकर, सब भूत प्राणियोंमें स्थित मुझको भजता है, वह सब प्रकारसे वर्तता हुआ भी

मेरे मैं ही वर्तता है ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! जो योगी आत्मा की उपमासे सर्वत्र सुख अथवा दुःखको समान देखता है, वह योगी श्रेष्ठ माना गया है ॥ ३२ ॥

अर्जुन बोले—

हे मधुसूदन कृष्ण ! जो यह योग आपने समत्व भावसे कहा है, इसकी मैं अपने मनके चंचल होनेसे, स्थिर स्थिति नहीं देख रहा हूँ ॥ ३३ ॥ क्योंकि, हे कृष्ण ! यह मन बड़ा चञ्चल, प्रमथन शील, दृढ़, और बलवान् है, उसका रोकना मैं वायुके रोकनेके समान अत्यन्त कठिन मानता हूँ ॥ ३४ ॥

श्रीभगवान् बोले—

हे महाबाहो अर्जुन ! निस्सन्देह मन चञ्चल और कठिनता

से वशमें होने वाला है, परन्तु हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अभ्यास और वैराग्यसे यह वशमें किया जाता है ॥३५॥ मनको वशमें न करनेवाले पुरुष द्वारा इस योगका पाना कठिन है; परन्तु स्वाधीन मनवाले, प्रयत्नशील पुरुषके द्वारा उपाय करने पर, इसका पाना संभव है, ऐसा मेरा मत है ॥ ३६ ॥

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! प्रयत्नरहित और योगसे विचलित हुए मन-वाला, परन्तु श्रद्धायुक्त पुरुष योगकी सिद्धिको न पाकर किस गति को प्राप्त होता है ? ॥३७॥ हे महाबाहो कृष्ण ! क्या वह ब्रह्मके मार्गमें भूला हुआ आश्रयरहित पुरुष फटे हुए बादल की भाँति दोनों ओरसे भ्रष्ट होकर नष्ट तो नहीं होजाता ॥३८॥

हे कृष्ण ! मेरे इस संशयको पूर्णरूपसे काटने योग्य आपही हैं। आपके बिना इस संशयको काटनेवाला मिल ही नहीं सकता ॥ ३६ ॥

श्री भगवान् बोले—

हे पार्थ अर्जुन, उस पुरुष का न तो इस लोकमें और न परलोकमें ही विनाश होता है; क्योंकि हे तात ! कोई भी शुभ कर्म करनेवाला दुर्गतिको प्राप्त नहीं होता है ॥ ४० ॥ योग-भ्रष्ट पुरुष पुण्यकर्मा पुरुषोंको प्राप्त होने योग्य लोकोंको प्राप्त होकर, बहुत वर्षों तक वास करके, शुद्ध आचरण वाले और श्रीमान् पुरुषोंके घरमें जन्म लेता है ॥ ४१ ॥ या बुद्धिमान् योगियोंके कुलमें उत्पन्न होता है; परन्तु इस प्रकार

का जो यह जन्म है संसारमें निःसन्देह अति दुर्लभ है ॥४२॥
 वहाँ वह पहले शरीरमें अभ्यास किये हुए बुद्धि संयोगको
 पा जाता है; और हे कुरुनन्दन अर्जुन ! उसके प्रभावसे फिर
 योगकी सिद्धिके लिये प्रयत्न करता है ॥ ४३ ॥ वह श्रीमानों
 के घरमें जन्म लेनेवाला योगभ्रष्ट पुरुष, अवश होने पर भी
 उस पूर्व अभ्याससे निस्सन्देह उसी योगकी ओर खींचा
 जाता है तथा योगका जिज्ञासु भी शब्दब्रह्म अर्थात् प्रकृति
 को लाँघ जाता है ॥ अर्थात् वह पुरुष इस प्रकृतिके सम्बन्ध
 से मुक्त होकर परमात्माको प्राप्त हो जाता है ॥ ४४ ॥ अनेक
 जन्मोंके अभ्याससे सिद्ध और सब पापोंसे विशुद्ध हुआ
 योगी इस जन्ममें प्रयत्नपूर्वक साधन करके पुनः परम गति

को प्राप्त हो जाता है ॥ ४५ ॥ योगी तपस्वियोंसे श्रेष्ठ है, ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ है और सकाम कर्म करनेवालोंसे भी श्रेष्ठ है; इसलिये, हे अर्जुन ! तू योगी हो ॥ ४६ ॥ सब योगियों से भी जो श्रद्धावान् भक्त मुझमें लगे हुए मनसे मुझको भजता है, वह मेरे मतमें सबसे श्रेष्ठ है ॥ ४७ ॥

आत्म-संयमयोग नामका छठवाँ अध्याय समाप्त

सातवें अध्याय का माहात्म्य

पाटलिपुत्र नगरमें शंकुकर्ण नामका एक ब्राह्मण रहता था । उसने कभी देवताओंका पूजन और पितरोंका तर्पण नहीं किया । वह सदैव वैश्यवृत्ति से धन जमा करनेमें लगा रहता था । इस प्रकार उसने बहुत सा धन जमा किया । एक दिन वह किसी व्यवसायके लिये परदेश गया । मार्गमें रात्रि होजानेके कारण किसी पेड़के नीचे सो गया । सोतेमें साँपने उसको डस लिया और वह मर गया । धनलिप्साके कारण उसे सर्पयोनि मिली । जहाँ उसने धन गाड़ा था वहीं रहने लगा और बहुत दुखी हुआ । उसके तीन पुत्र थे । एक रात्रि उसने स्वप्न में उनसे कहा कि मैं सर्पयोनि में पड़ा हुआ अत्यन्त दुखी हूँ । अमुक वृक्ष के नीचे मेरा धन गड़ा है, वहीं मैं रहता हूँ । मुझे किसी प्रकार इस योनिसे मुक्त करो । मंभले पुत्रको यह सूझा कि इस सर्प को मारकर सब धन हड़प करँ । वह अपनी स्त्रीको लेकर वहाँ

गया और साँप की बाँबी खोदने लगा। थोड़ी देरमें बाँबीसे एक विषधर सर्प निकला। यही उसका पिता था। वह फुफकार बोला, अरे मूर्ख ! तू कौन है ? क्यों बाँबी खोदता है ? पुत्र ने स्वप्न का सब हाल सुनाया। पुत्र का स्वार्थ देखकर पिताने हँसकर कहा, 'अरे मूर्ख ! यदि तू मेरा पुत्र है, तो मुझे इस सर्प योनिसे मुक्त कर'। पुत्रने पूछा, 'आप ही उपाय बताइये ?' सर्प ने कहा, दान, यज्ञ, अथवा तीर्थयात्रा से मेरे पाप नाश नहीं हो सकते। मेरे श्राद्ध के दिन गीताके सातवें अध्याय का पाठ कराओ और श्रद्धा से ब्राह्मणों का पूजन कराओ इसीसे मेरा उद्धार होगा। जब मैं सर्पयोनिसे मुक्त हो-जाऊँ, तुम तीनों भाई इस धनको आपस में बाँट लेना।

पिताकी यह बात सुनकर पुत्र अपनी स्त्रीके सहित घर लौट आया और पिता के श्राद्ध के दिन गीता के सातवें अध्याय का पाठ करने लगा। उसीके प्रसाद से उसका पिता साँप की देह छोड़कर वैकुण्ठ धाम को गया।

हरिः ॐ तत्सत्

[ज्ञान-विज्ञान योग नाम सातवाँ अध्याय]

श्रीभगवान् बोले—

हे पृथापुत्र अर्जुन ! मुझमें आसक्त मनवाला, मेरे ही आश्रित हुआ, योगमें लगा हुआ तू मुझको संपूर्णता से जिस प्रकार बिना संदेह के जानेगा, उसको सुन ॥ १ ॥ मैं तुझको यह ज्ञान विज्ञान* के साथ पूर्ण रूप से बतलाऊँगा, जिसको जानकर फिर यहाँ और जानने योग्य कुछ भी शेष न रहेगा ॥ २ ॥ सहस्रों मनुष्यों में कोई एक ही सिद्धि पर्यन्त यत्न करता है ।

* जिस ज्ञान से परमपुरुष के प्रकृति संसर्ग रहित स्वरूप का सांगोपाङ्ग ज्ञान होता है, उस ज्ञान का नाम विज्ञान है ।

और सिद्धिपर्यन्त यत्न करनेवाले पुरुषोंमें कोई एक ही मुझे
 यथार्थ स्वरूपसे जानता है, अभिप्राय यह है कि कोई भी
 नहीं जानता ॥ ३ ॥ पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, मन,
 बुद्धि और अहङ्कार—यह आठ प्रकारकी प्रकृति मेरी
 है ॥ ४ ॥ यह आठ प्रकारके भेदोंवाली तो अपरा है अर्थात्
 मेरी जड़ प्रकृति है। हे महाबाहो ! इससे दूसरी मेरी जीवरूप
 परा अर्थात् चेतन प्रकृति जान, जिससे यह जगत धारण
 किया जाता है ॥ ५ ॥ ऐसा समझ, कि संपूर्ण भूत इन दोनों
 प्रकृतियोंसे ही उत्पन्न होनेवाले हैं। मैं समस्त जगत का उत्पत्ति
 तथा प्रलय रूप हूँ ॥ ६ ॥ हे धनञ्जय अर्जुन ! मुझसे श्रेष्ठतर
 दूसरा कुछ भी नहीं है। सूतमें मणियोंके समान यह सब

जगत मुझमें पिरोया हुआ है ॥७॥ हे कुन्ती के पुत्र अर्जुन !
 मैं जलोंमें रस, चन्द्रमा और सूर्यमें प्रभा, सब वेदोंमें ओंकार,
 आकाशमें शब्द मनुष्योंमें मनुष्यत्व ॥ ८ ॥ पृथ्वी में पवित्र
 गन्ध, अग्नि में तेज, सब प्राणियों में जीवन, और तपस्वियों
 में तप मैं हूँ ॥ ९ ॥ हे पार्थ अर्जुन ! सब प्राणियोंका सनातन
 बीज तू मुझको जान । बुद्धिमानोंकी बुद्धि और तेजस्वियों
 का तेज मैं हूँ ॥ १० ॥ हे भरत श्रेष्ठ, बलवानोंका काम रागसे
 रहित बल, और प्राणियों में धर्म से जो विरुद्ध नहीं ऐसा काम
 मैं हूँ ॥ ११ ॥ और जो भी ये सात्विक, राजसिक और ताम-
 सिक भाव हैं, वे मुझसे ही उत्पन्न हैं, ऐसा समझ । परन्तु मैं
 उनमें नहीं हूँ, वे मुझमें हैं ॥ १२ ॥ इन गुणम तीन प्रकार

के पदार्थों से मोहित हुआ। यह सब जगत् इन सबसे श्रेष्ठतर मुझ अविनाशी को नहीं जानता है ॥१३॥ यह मेरी गुणमयी माया निस्संदेह दुस्तर है; पर जो एक मात्र मेरी शरण ग्रहण कर लेते हैं, वे इस माया से तर जाते हैं ॥ १४ ॥ दूषित कर्म करने वाले मूढ़ लोग आसुरी भावको धारण किये मनुष्यों में नीच, माया द्वारा हरे हुए ज्ञान वाले, मुझको नहीं भजते हैं ॥१५॥ हे भरत वंशियों में श्रेष्ठ अर्जुन! मुझे दुखी, जानने की इच्छा वाला, अर्थ चाहनेवाला और ज्ञानी—ये चार प्रकार के पुण्य कर्मा मनुष्य मुझको भजते हैं ॥ १६ ॥ उनमें नित्य मेरे मैं एकी भावसे स्थित और अनन्य भक्तिवाला ज्ञानी श्रेष्ठ है, क्योंकि ज्ञानी को मैं अत्यन्त प्रिय हूँ, और वह

मुझको प्रिय है ॥ १७ ॥ ये सभी उदार हैं। ज्ञानीको तो मैं
 अपना आत्मा ही समझता हूँ ॥ १८ ॥ क्योंकि वह बहुत से
 जन्मोंके अन्तमें ज्ञानी इस भावसे कि 'यह सब वासुदेव ही है'
 मेरी शरण ग्रहण करता है। वह महात्मा अत्यन्त दुर्लभ
 है ॥ १९ ॥ उन-उन भोग कामनाओंसे हरे गये ज्ञानवाले,
 अपनी प्रकृति के वश होकर, उस-उस नियममें स्थित होकर,
 अन्य देवताओंकी शरण ग्रहण करते हैं ॥ २० ॥ जो-जो भक्त
 जिस-जिस देवतारूप मेरे शरीरको श्रद्धाके साथ पूजना
 चाहता है, उस-उसकी उस श्रद्धाको मैं ही अचल कर देता
 हूँ ॥ २१ ॥ वह भक्त उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवता
 रूप भगवान्के शरीरकी आराधना करता है, और उससे

मेरे ही द्वारा नियत किये हुए उन इच्छित भोगोंको निस्संदेह प्राप्त करता है ॥ २२ ॥ परन्तु उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नाशवान है । देवताओंको पूजनेवाले देवताओंको प्राप्त होते हैं, मेरे भक्त मुझको ही प्राप्त होते हैं ॥ २३ ॥ बुद्धिहीन पुरुष मेरे अतिउत्तम अविनाशी परमप्रभावको न जानकर ऐसा मानते हैं कि यह पहले अव्यक्त था, अब व्यक्ति में आया है ॥ २४ ॥ योग माया से ढका हुआ मैं सबके लिये प्रकट नहीं हूँ । इसी से यह मूढ़ जगत् मुझ अजन्मा और अविनाशीको नहीं जानता है ॥ २५ ॥ हे अर्जुन ! पूर्व में बीते हुए, वर्तमानमें स्थित और भविष्य में होने वाले सब भूतोंको मैं जानता हूँ; पर मुझको कोई नहीं जानता ॥ २६ ॥ हे भरतवंशी अर्जुन !

जन्म काल में सभी भूत प्राणी इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न
 द्वन्द्वरूप मोहसे मोहित हो जाते हैं ॥२७॥ परन्तु जिन पुण्य
 कर्मा भक्तोंका पाप नष्ट हो गया है, वे द्वन्द्व मोहसे छूटे हुए
 दृढ़व्रती होकर मुझको भजते हैं ॥ २८ ॥ जो जरा मरण
 छूटनेके लिये मेरा आश्रय लेकर यत्न करते हैं, वे उस ब्रह्म
 को, संपूर्ण अध्यात्मको और संपूर्ण कर्मको जानते हैं ॥२९॥
 जो पुरुष अधिभूत और अधिदैवके सहित और अधियोग
 के सहित मुझको जानते हैं, वे युक्त चित्तवाले पुरुष अंतर्काल
 में भी मुझको ही जानते हैं अर्थात् प्राप्त होते हैं ॥३०॥

ज्ञान विज्ञान नाम सातवाँ अध्याय समाप्त ।

आठवें अध्याय का माहात्म्य

दक्षिण देश में आमर्दकपुर नामका एक प्रसिद्ध नगर था। वहाँ भाव-
शर्मा नामका एक अधम ब्राह्मण रहता था। वह मांस खाता, शराब पीता,
चोरी करता और सदा बुरे कर्म करता था। एक दिन वह अपने मित्रोंके
साथ ताड़ी पीते-पीते मर गया और उसी स्थानमें ताड़का वृक्ष हुआ।
जब यह पेड़ बड़ा हुआ, तो एक ब्रह्मराक्षस अपनी स्त्रीके साथ इस पेड़ पर
रहने लगा। एक दिन स्त्रीने अपने पतिसे पूछा 'भला हमें इस घोर दुखसे
किसी प्रकार छुटकारा होसकता है?' ब्रह्मराक्षसने कहा, हमने पूर्व जन्म में
सुना था कि गीताका पाठ करने या सुननेसे प्राणी मुक्त होजाते हैं। परंतु
मैंने कभी गीता न पढ़ी, और न सुनी। एक दिन गीता का आधा श्लोक
एक ब्रह्मवादी के मुखसे सुना था, वह मुझे अब भी याद है। यह कहकर
उसने उस आधे श्लोकको पढ़ा। उसके पढ़ते ही वह ताड़ का वृक्ष सूखकर

गिर गया—यह था भावशर्मा । उसने एक ब्राह्मणके घर में जन्म लिया और उसी आधे श्लोकका पाठ करने लगा । अन्तमें शरीर त्यागकर ब्रह्मलोक को गया । ब्रह्मराक्षस और उसीकी स्त्री भी उसी आधे श्लोकके प्रभाव से उस अधम शरीरसे मुक्त होकर वैकुण्ठ लोकको गये ।

यह आधा श्लोक गीताके आठवें अध्याय का था ।



हरिः ॐ तत्सत्

[अक्षरब्रह्मयोग नाम आठवाँ अध्याय]

अर्जुन बोले—

हे पुरुषोत्तम ! वह ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है, और अधिभूत क्या कहा गया है, अधिदैव किस को कहा जाता है ॥ १ ॥ हे मधुसूदन कृष्ण ! यहाँ अधियज्ञ कौन है, और वह इस शरीरमें कैसे है । युक्त चित्तवाले पुरुषों द्वारा मरते समय आप किस प्रकार जाने जाते हैं ॥ २ ॥

श्री भगवान् बोले—

‘ब्रह्म’ (आत्मा) परम अक्षर अर्थात् नाश रहित है, स्वभाव (प्रकृति ‘अध्यात्म’ कहलाता है, भूतोंके भावको उत्पन्न करने

वाले त्याग का नाम 'कर्म' है ॥ ३ ॥ देहधारियोंमें श्रेष्ठ
 अर्जुन ! नाशवान भाव 'अधिभूत' है, और पुरुष 'अधिदैव' है,
 और इस शरीर में 'अधियज्ञ' मैं ही हूँ ॥ ४ ॥ और अन्तकाल
 में मुझको ही स्मरण करता हुआ जो शरीर छोड़कर जाता
 है, वह मेरे भावको प्राप्त होता है; इसमें संशय नहीं है ॥ ५ ॥ हे
 कुन्ती पुत्र अर्जुन ! जिस-जिस भावको मरण कालमें स्मरण
 करता हुआ मनुष्य शरीर छोड़ता है, वह सदा पूर्वसे ही उस भाव
 से भावित हुआ उस-उस भावको प्राप्त होता है ॥ ६ ॥ इस कारण,
 सब समयमें तू मुझको स्मरण कर और युद्ध कर । मुझमें अर्पण
 की हुई मन बुद्धिसे मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ७ ॥ हे पार्थ
 अर्जुन ! (प्रति दिनके) अभ्यास और योगसे युक्त होने

के कारण, जो अन्यत्र न जानेवाला चित्त है, ऐसे चित्तसे, परम दिव्य पुरुष परमेश्वर को प्राप्त होता है ॥ ८ ॥ जो पुरुष कवि अर्थात् सर्वज्ञ, पुराने अर्थात् अनादि, विश्व का अनुशासन करनेवाले, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सबके रचयिता, अचिन्त्य स्वरूप, सूर्य के समान वर्णवाले, अन्धकारसे परे, परमेश्वर का स्मरण करता है ॥ ९ ॥ मरनेके समय, अचल मनसे भक्तिसे युक्त होकर, और योगबल से दोनों भृकुटियों के बीच प्राण को अच्छी तरह स्थित करके, वह उस दिव्य परम पुरुषको प्राप्त होता है ॥ १० ॥ वेद के जाननेवाले जिसे 'अक्षर' कहते हैं, आसक्तिरहित याति जिसमें प्रवेश करते हैं, जिसकी इच्छा करते हुए मनुष्य ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, उस पद को मैं

संक्षेपमें तुझसे कहूँगा ॥११॥ समस्त द्वारों अर्थात् इन्द्रियोंको
 रोककर, मनको हृदयमें स्थिर करके, अपने प्राणोंको मस्तक
 में ठहराकर, योगधारणामें स्थित होकर ॥ १२ ॥ 'ॐ' इस
 एक अक्षर-ब्रह्मका उच्चारण करता हुआ और मुझको स्मरण
 करता हुआ, जो शरीर छोड़कर जाता है, वह परमगति को
 प्राप्त होता है ॥ १३ ॥ हे पृथापुत्र अर्जुन! जो अनन्य चित्त
 वाला भक्त निरन्तर मेरा स्मरण करता है, उस नित्य युक्त
 योगीके लिये मैं सुलभ हूँ ॥ १४ ॥ मुझे प्राप्त होकर, परम
 सिद्धिको पाये हुए महात्मा लोग दुःखोंके घर अनित्य पुन-
 र्जन्म को नहीं प्राप्त होते ॥ १५ ॥ हे अर्जुन! ब्रह्म लोक से लेकर
 सभी लोक पुनरावृत्ति शील हैं अर्थात् जिनको प्राप्त होकर

संसारमें फिर आना पड़ता है । हे कुन्ती के पुत्र ! मुझे पा लेनेके बाद फिर जन्म नहीं होता ॥ १६ ॥ ब्रह्मा का जो दिन है उसे सहस्र युग तक रहनेवाला, और रात्रिको भी सहस्र युग तक रहने वाली, जो जानते हैं, वे दिन-रात को जानने वाले हैं ॥ १७ ॥ दिन के आरम्भ समय में, अव्यक्त ब्रह्मा के सूक्ष्म शरीर से सब व्यक्तियाँ, अर्थात् भूतगण, उत्पन्न होती हैं । और रात्रि के आरम्भ समय में उस अव्यक्त नामवाले ब्रह्माके सूक्ष्म शरीरमें ही लय होते हैं ॥ १८ ॥ हे पार्थ अर्जुन ! वह ही यह अस्वतन्त्र कर्माधीन प्राणियोंका समुदाय बार-बार उत्पन्न होकर रात्रिके आने पर लय हो जाता है और दिन के आनेपर उत्पन्न हो जाता है ॥ १९ ॥ परन्तु उस जड़

प्रकृतिरूप अव्यक्तसे श्रेष्ठ जो दूसरा सनातन आत्म रूप अव्यक्त भाव है, वह सब भूतोंके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता ॥ २० ॥ वह अव्यक्त अक्षर है, ऐसा कहा गया है, उसीको परमगति कहते हैं। जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परमधाम है ॥ २१ ॥ हे पार्थ अर्जुन ! वह परम पुरुष, जिसके अन्तर्गत सब भूत स्थित हैं, और जिससे यह सारा जगत व्याप्त है, सचमुच अनन्य भक्तिसे ही प्राप्त होने योग्य है ॥ २२ ॥ हे भरत श्रेष्ठ अर्जुन ! जिसकाल (मार्ग) में गये हुए योगी वापस न लौटने वाली गतिको प्राप्त होते हैं और जिस मार्गमें पुण्यकर्मा पुरुष वापस लौटने वाली गतिको प्राप्त होते हैं, वह मार्ग बतलाऊंगा ॥ २३ ॥ अग्नि ज्योति,

दिन, शुक्ल पक्ष और उत्तरायण के छः महीने उनमें गये हुए
 ब्रह्म को जानने वाले पुरुष ब्रह्मको प्राप्त होते हैं ॥ २४ ॥ धूम,
 रात्रि, कृष्णपक्ष, तथा दक्षिणायन के छः मास उनमें गया
 हुआ योगी, चन्द्रमा सम्बन्धी ज्योतिको प्राप्त होकर फिर
 लौट आता है ॥ २५ ॥ ये शुक्ल-कृष्ण गति निश्चय ही जगत
 में सनातन मानी गई हैं। एक से अर्थात् शुक्लगति से मनुष्य
 अनावृत्ति को (अर्थात् पुनःजन्म न होगा) प्राप्त होता है।
 और दूसरीसे अर्थात् कृष्णगति से पुनः वापस लौट आता
 है ॥ २६ ॥ हे पार्थ अर्जुन ! इन दोनों मार्गोंको जाननेवाला
 कोई भी योगी मोहको प्राप्त नहीं होता। इसलिये, हे अर्जुन !
 तू सब कालोंमें योगयुक्त हो ॥ २७ ॥ वेदों, यज्ञों, तपों और

ऐसे ही दानों में जो पुण्य फल दिखलाया गया है, योगी इसको जानकर, उस सबको लाँघ जाता है और परम आदि-स्थान को प्राप्त होता है ॥ २८ ॥

अक्षरब्रह्मयोग नाम का आठवाँ अध्याय समाप्त ।

नवें अध्यायका माहात्म्य

नर्मदा नदीके किनारे महिष्मती नामकी एक नगरी थी । उसमें माधव नामका एक ब्राह्मण रहता था । वह बड़ा विद्वान, धर्मात्मा, तथा वेदवेदाङ्गका ज्ञाता था । धन संचय कर उसने एक यज्ञ का अनुष्ठान किया । बलिदानके लिये एक बकरा लाया । बकरे का बलिदान करनेको ज्यों ही उद्यत हुआ, बकरा हंस पड़ा और बोला—“इन यज्ञोंके करने से क्या लाभ ? ये सब नश्वर फल हैं । देखा हमारी दशा । हम कितना दुख भोग रहे हैं ।”

ब्राह्मणको बकरेकी बातें सुनकर आश्चर्य हुआ और पूछा कि तुम कौन हो, अपना हाल हमसे बताओ । बकरे ने कहा, “हम पहले एक कुलीन ब्राह्मण थे । हमने वेदवेदाङ्गका अध्ययन किया था । यज्ञ करने में निपुण थे । एकबार हमारी स्त्रीने अपने पुत्रकी बीमारीमें देवीकी भेंट करने के लिये

एक बकरा मंगाया । जब उसका बलिदान होने लगा, उसकी माँने हमको श्राप दिया—‘पापी ब्राह्मण, तू अज्ञ है । निर्दयता से हमारे बच्चे का गला काटता है । तू भी बकरा होगा ।’ उसी श्राप से हम अनेक योनियोंमें भ्रमण करते हुये अब बकरा हुये हैं । तुम्हे भी उसी कर्म को करते देख हमको हँसी आई । तुम अज्ञ न बनो । ऐसा कर्म करो जिससे जन्म-मरण से मुक्ति मिले । ब्राह्मण ने कहा, “तुम्हे तो और कोई कर्म आता ही नहीं । आप ही वह कर्म बताइये ।” बकरेने कहा, हम उपाय बताते हैं । इस जन्म के पहले हमें बन्दरका जन्म मिला था । एक बार हम सूर्य ग्रहणके दिन नर्मदाके किनारे एक पेड़ पर बैठे थे । एक राजा ब्राह्मणको दान दे रहा था । अन्य ब्राह्मणोंने उससे कहा कि यह दान तुम्हें नरक में ले जावेगा । उस ब्राह्मण ने कहा, “हम ऐसे कितने दान ले चुके हैं । हम वह उपाय जानते हैं जिससे इन दानों का पाप हमको नहीं लगसकता” । ब्राह्मणों ने

पूँछा—“वह उपाय हमको भी बताओ ।” उस ब्राह्मण ने कहा, “हम प्रति दिन गीताके नवें अध्यायका पाठ करते हैं ! इसीसे हमको इस दानका कोई भय नहीं है ।” बकरेने कहा—“हे ब्राह्मण ! यदि तुम गीताके नवें अध्याय का पाठ करो और हमको भी सुनाओ, तो हम और तुम दोनों इस संसार के बंधनसे छूट जावें” ।

ब्राह्मण उसी दिन से नित्य गीताके नवें अध्याय का पाठ करने लगा । बकरा भी सुनता था । उसीके प्रभावसे वे दोनों शरीर छूटने पर वैकुण्ठ को प्राप्त हुये ॥



हरिः ॐ तत्सत्

[राजविद्या-राजगुह्ययोग नाम नवाँ अध्याय]

श्री भगवान् बोले—

यह परम गोपनीय भक्तिरूप उपासना नामक ज्ञान मैं तुम्हें
दोषदृष्टिरहित भक्तके लिये विज्ञान अर्थात् उपासना सम्बन्धी
गतिभेदोंके ज्ञान सहित बतलाऊँगा, जिसको जानकर तू
मेरे प्राप्तके विरोधी सब अशुभों से छूट जायगा ॥ १ ॥ यह
ज्ञान विद्याओंका राजा, और गुप्त रखे जानेवाले समस्त
भावों का भी राजा है, परम पवित्र, उत्तम, प्रत्यक्षफलवाला
अर्थात् जिससे मैं उपासकके प्रत्यक्ष हो जाता हूँ, धर्म से
युक्त, सुखपूर्वक अनुष्ठान करने योग्य, और अविनाशी है ॥ २ ॥

हे परंतप अर्जुन ! इस धर्ममें श्रद्धासे रहित पुरुष मुझको न
 पाकर मृत्युरूप संसारचक्रमें घूमते रहते हैं ॥ ३ ॥ मेरे अप्र-
 काशित स्वरूप से यह सब जगत् व्याप्त है । सब प्राणी मुझ
 में स्थित हैं, और मैं उनमें स्थित नहीं हूँ ॥ ४ ॥ तथा वे भूत
 भी मुझमें स्थित नहीं हैं । मेरे ऐश्वर्य-योग को तू देख । मैं
 भूतों का धारण करने वाला हूँ, पर भूतों में स्थित नहीं हूँ,
 अर्थात् मैं सब भूतों का धारण-पोषण करनेवाला हूँ, उनसे
 मेरा कुछ भी उपकार नहीं है । मेरा आत्मा अर्थात् मनोमय
 संकल्प ही भूतोंका उत्पन्न करनेवाला, धारण करनेवाला
 और नियमन करनेवाला है ॥ ५ ॥ जैसे सर्वत्र गति वाला
 महान् वायु आकाशमें नित्य स्थित है, वैसे ही समस्त भूत

मुझमें स्थित हैं, तू ऐसा निश्चय कर ६॥ हे कुन्ती पुत्र अर्जुन !
 चराचर सभी भूतप्राणी कल्पके अन्तमें मेरी जड़ प्रकृति
 को प्राप्त होते हैं अर्थात् लीन हो जाते हैं । उन्हीं भूत प्राणियों
 को कल्पके आदिमें मैं फिर रचता हूँ ॥७॥ विविध परिणाम
 वाली अपनी प्रकृतिको अवलम्बन करके इन चार प्रकार
 के भूतसमुदाय-देव, तिर्यक, मनुष्य, और स्थावर को, जो
 कि सबको मोहित करनेवाली मेरी गुणमयी प्रकृति के बल
 से विवश हो रहा है, उसको बार-बार समय-समय पर नाना
 प्रकार से रचता हूँ ॥ ८ ॥ हे धनञ्जय अर्जुन ! उन कर्मों में
 उदासीन की तरह स्थित मुझ आसक्ति रहितको वे रचनात्मक
 कर्म नहीं बाँधते ॥ ९ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! मुझ अध्यत्

द्वारा प्रेरित प्रकृति सब चराचर जगत्को उत्पन्न करती है। इस हेतुसे यह जगत् चलता रहता है ॥ १० ॥ मूर्ख लोग मेरे परमभाव को न जानते हुए भूतोंके महान् ईश्वर मुझ मनुष्य शरीरधारीकी अवज्ञा अर्थात् अपमान करते हैं ॥ ११ ॥ मेरा मनुष्यत्वको धारण करना परम दयालुता आदि गुणके कारण है। इस बातको छिपा देनेवाली राक्षसी, आसुरी और मोहिनी प्रकृतिका आश्रय लेनेवाले पुरुष, व्यर्थ आशावाले अर्थात् निष्फल इच्छावाले, व्यर्थ कर्म करनेवाले, व्यर्थ ज्ञानवाले और विक्षिप्तचित्तवाले होते हैं ॥ १२ ॥ परन्तु हे पृथापुत्र अर्जुन ! देवी प्रकृतिके आश्रित जिनका मन केवल मुझमें लगा है, ऐसे महात्मा लोग मुझे भूतोंका आदि और अवि-

नाशी जानकर मेरा भजन करते हैं ॥ १३ ॥ वे सदा मेरा
 कीर्तन करते हुए, मेरे कर्मों में दृढ़ संकल्प होकर यत्न करते हुए,
 तथा भक्ति पूर्वक मुझे सदा नमस्कार करते हुए, और नित्य
 मुझमें लगे रहकर मेरी उपासना करते हैं ॥ १४ ॥ और दूसरे
 महात्मा ज्ञान नामक यज्ञसे मेरी पूजा करते हुए, बहुत प्रकार
 से पृथक्-पृथक् रूपसे जगतके आकारमें स्थित मुझ विश्वा-
 कारमें अवस्थित परमेश्वरको एक भावसे, उपासना करते
 हैं ॥ १५ ॥ ज्योतिष्टोम आदि क्रतु मैं हूँ, यज्ञ मैं ही हूँ, पितरों
 को पुष्ट देनेवाली स्वधा मैं ही हूँ, और औषध हवि मैं ही हूँ।
 मैं ही मंत्र, मैं ही धी, अर्थात् सोम आदि हविष्य भी हूँ, मैं ही
 आहवनीय आदि अग्नि और होम भी मैं ही हूँ ॥ १६ ॥ इस

जगत्का पिता, माता, पितामह और धारण पोषण करने-
 वाला मैं हूँ। वेदोंके द्वारा जानने योग्य पवित्र ओंकार तथा
 ऋग्वेद, सामवेद, यजुर्वेद, मैं ही हूँ ॥१७॥ सबकी गति, भरण-
 पोषण करनेवाला, स्वामी, प्रत्यक्ष देखनेवाला और निवास
 गृह आदि स्थान, आश्रय लेने योग्य शरण, हितैषी, उत्पत्ति
 और प्रलयका स्थान, निधान अर्थात् उत्पन्न और उपसंहार
 किये जाने योग्य वस्तु, तथा अविनाशी बीज मैं ही हूँ ॥१८॥
 हे अर्जुन! मैं ही अग्नि और सूर्य आदिकेरूपमें तपता हूँ। मैं वर्षा
 को रोके रखता और बरसाता हूँ। अमृत तथा मृत्यु, सत् अर्थात्
 वर्तमान वस्तु और असत् अर्थात् भूत-भविष्य वस्तु भी मैं ही
 हूँ ॥१९॥ तीनों वेदोंमें निष्ठा रखनेवाले, सोमरस पीनेवाले, शुद्ध

हुए पापोंवाले पुरुष, यज्ञोंसे मुझे पूजकर मुझे न जाननेके कारण स्वर्गप्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यरूप इन्द्रलोकको पाकर स्वर्गमें देवताओंके दिव्य भोगोंको भोगते हैं ॥ २० ॥ वे उस विशाल स्वर्गलोकको भोगकर, पुण्यके समाप्त होने पर, पुनः मर्त्यलोकमें प्रवेश करते हैं। इस प्रकार केवल तीनों वेदोंमें कहे हुए धर्म के आश्रित और भोगों की कामनावाले मनुष्य आवागमन को प्राप्त होते हैं ॥ २१ ॥ जो अनन्य भक्ति-जन मेरा चिन्तन करते हुए, भली भाँति मेरी उपासना करते हैं, उन निरन्तर मुझसे सम्बन्ध चाहने वाले भक्तोंका मेरी प्राप्तिरूप 'योग' और अपुनरावृत्ति रूप 'क्षेम' मैं प्राप्त कर देता हूँ ॥ २२ ॥ हे अर्जुन ! जो भी अन्य देवताओंके भक्त

श्रद्धासे युक्त होकर उनको पूजते हैं, वे भी अविधि पूर्वक मेरी ही पूजा करते हैं ॥ २३ ॥ क्योंकि मैं ही सब यज्ञोंका भोक्ता और प्रभु भी हूँ; परन्तु वे मुझको तत्त्वसे नहीं जानते हैं, इसलिये गिर जाते हैं ॥ २४ ॥ देवताओं को पूजनेवाले देवताओंको पाते हैं, पितरोंको पूजनेवाले पितरोंको पाते हैं, भूतोंके पूजनेवाले भूतोंको पाते हैं, और मेरे पूजनेवाले मुझको प्राप्त होते हैं ॥ २५ ॥ जो मुझे पत्र, पुष्प फल और जल भक्ति पूर्वक अर्पण करता है, उस पवित्र मनवाले भक्त का भक्तिसे अर्पण किया हुआ पत्र-पुष्पादि मैं खाता हूँ ॥ २६ ॥ तू जो कुछ करता है, जो कुछ खाता है, जो कुछ हवन करता है, जो कुछ देता है, जो कुछ तप करता है, हे अर्जुन ! वह सब

मेरे अर्पण कर ॥ २७ ॥ इस प्रकार संन्यास नामक योगसे युक्त मनवाला होकर तू शुभ-अशुभ फल देनेवाले कर्म बन्धनोंसे छूट जायगा । और उनसे छूटा हुआ तू मुझको प्राप्त होगा ॥ २८ ॥ सभी प्राणियोंमें मैं सम हूँ, न मेरा कोई अप्रिय है, न प्रिय है । जो मेरा प्रेम से भजन करते हैं; वे मुझ में हैं और मैं भी उन में हूँ । अर्थात् मेरे अनन्य भक्त जाति आदि से चाहे श्रेष्ठ हों या निकृष्ट, वे मेरे समान गुण सम्पन्न होकर मुझ में ही वर्तते हैं और मैं भी मेरे श्रेष्ठ भक्तों के साथ जैसा बर्ताव होना चाहिये, उसी प्रकार उनके साथ वर्तता हूँ ॥ २९ ॥ यदि कोई दुराचारी भी केवल मेरे भजनको ही अपना एकमात्र प्रयोजन समझने वाला होकर मेरा भजन

करता है, तो उसे साधु ही मानना चाहिये, क्योंकि वह ठीक-
 ठीक निश्चय वाला है ॥ ३० ॥ वह शीघ्र ही धर्मात्मा हो
 जाता है और सदा रहनेवाली शान्तिको प्राप्त होता है ।
 हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! तू निश्चय पूर्वक सत्य जान कि मेरा
 भक्त नष्ट नहीं होता ॥ ३१ ॥ क्योंकि मेरा आश्रय लेकर स्त्रियाँ
 वैश्य और शूद्र, अथवा जो भी कोई पापयोनि हो, वे भी
 परमगतिको प्राप्त होते हैं ॥ ३२ ॥ फिर पुण्ययोनि ब्राह्मणों
 और राजर्षि भक्तोंके लिये तो कहना ही क्या ? इसलिये तू
 इस अनित्य और सुख रहित मनुष्य शरीर को प्राप्त होकर
 मेरा ही भजन कर ॥ ३३ ॥ मुझमें मनवाला हो, मेरा भक्त
 हो, मेरा पूजन करनेवाला हो, मुझको नमस्कार कर । इस

प्रकार मनको लगाकर, मैं ही जिसका परम आश्रय हूँ ऐसा
मत्परायण हुआ, तू मुझको ही प्राप्त होगा ॥ ३४ ॥

राजविद्याराजगुह्ययोग नवाँ अध्याय समाप्त ।

दसवें अध्याय का माहात्म्य

काशीपुरीमें एक धर्मात्मा, ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण रहता था। एक दिन वह विश्वनाथजीके मंदिरमें जाकर भगवान शंकरका ध्यान करने लगा। ध्यानमें साक्षात् शंकरजीके दर्शन उसे हो रहे थे। शंकरजीके एक भृङ्गि-रिटि नामके एक गणने पूछा, “भगवन, किस तपस्याके प्रभावसे यह आपके देवताओंको दुर्लभ दर्शन कर रहा है।” महादेवजीने कहा, “सुनो, एक बार हम पार्वतीजीके साथ कैलाश पर्वत पर बैठे थे। एक हंस कमल का फूल लेकर हमारे पास आया और प्रणाम करके बैठ गया। यह हंस अत्यन्त काला था। हमने उससे पूछा, “तुम कौवे की तरह काले कैसे हो गये।” हंसने कहा, “मैं ब्रह्मा का वाहन हूँ। आपके दर्शन के लिये आया हूँ। जब मैं उड़ता हुआ मानसरोवर के ऊपर आया, तो अकस्मात् मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिर गया और मेरा शरीर एक दम काला होगया। सरोवर

में से अचानक एक आवाज आई, “अरे हंस ! उठो और हमारे पास आओ,
 कारण हम बतावेंगे।” मैंने वहाँ जाकर बहुत से कमलों के बीच में एक
 कमलिनी देखी। उसने मुझसे कहा, “तुम हमारे ऊपर से उड़े, इसी लिये
 गिरे और काले होगये।” मैंने उससे पूछा, “तुम कौन हो ?” उसने कहा, मैं
 पहले एक ब्राह्मणी थी। एक दिन मैं मैनाको पढ़ा रही थी। मेरे पतिदेव आये।
 मैंने उनका यथोचित सत्कार नहीं किया। उन्होंने मुझे श्राप दिया मैं मैना
 होजाऊँ। अतएव दूसरे जन्ममें मैं मैना हुई। मैं एक मुनिके आश्रम में
 रहती थी। मुनिजी प्रतिदिन गीताके दसवें अध्यायका पाठ किया करते
 थे। मैं पाठ सुना करती थी। उसके प्रभावसे अगले जन्ममें पद्मावती नाम
 की अप्सरा हुई। एक दिन मैं इस सरोवरमें क्रीड़ा कर रही थी। दुर्वासाजी
 यहाँ आये। मैं उनको देखकर डरके मारे कमलिनीका रूप धारणकर कमलों
 के बीच में छिप गई। दुर्वासाजीने मुझे नंगीदेखलिया था, अतः कुपित होकर

मुझे श्राप दिया, “अरे दुष्टे, तू सौ वर्ष तक इसी कमलिनी के रूप में रहेगी।” पर हे हंस ! यह गीताके दसवें अध्यायके सुननेका प्रभाव है, कि मैं कमलिनी के रूपमें भी बोल रही हूँ। आज सौ वर्ष पूरे होगये। मैं श्रापसे मुक्त होकर स्वर्गको जाती हूँ। तुम भी जब किसी ब्रह्मवादी ब्राह्मणके मुँहसे दसवें अध्यायका पाठ सुनोगे, तब तुम्हारा शरीर कालेसे पूर्ववत् सफेद हो जावेगा और अन्त को अक्षय लोकको प्राप्त करोगे।” मैं आपके दर्शन करके अब किसी ब्राह्मणसे दसवें अध्यायका पाठ सुनने जाऊँगा।” यह कहकर वह हंस चला गया और एक तपोवन में गया। वहाँ एक तपस्वी दसवें अध्यायका पाठ करता था। यह हंस वहीं रहने लगा और नित्य पाठ सुनने लगा। अंतको वह शरीर त्याग श्रेष्ठ ब्राह्मण कुल में जन्म लिया। यह वही ब्राह्मण है। उसी गीताके पाठ से यह मेरे दुर्लभ दर्शन ध्यानमें कर रहा है ॥”

हरिः ॐ तत्सत्

[विभूतियोग नाम दसवाँ अध्याय]

श्रीभगवान् बोले—

हे महाबाहो अर्जुन ! फिर भी मेरे श्रेष्ठ वचन को सुन, जो मैं तुझ अत्यन्त प्रेम रखनेवाले के लिये हित की इच्छा से कहूँगा ॥ १ ॥ न देवतागण मेरे प्रभाव को जानते हैं और न महर्षिगण; क्योंकि मैं देवताओं और महर्षियों का सब प्रकार से आदि कारण हूँ ॥ २ ॥ जो मुझको जन्मरहित और अनादि तथा लोकों का महान् ईश्वर जानता है, वह मनुष्यों में मोहसे रहित हुआ सब पापोंसे छूट जाता है ॥ ३ ॥ बुद्धि, ज्ञान, अमूढ़ता, क्षमा, सत्य, इन्द्रियों का वश में करना मन

का रोकना, सुख, दुख, उत्पत्ति और प्रलय, भय और अभय भी ॥४॥ अहिंसा, समता, संतोष, तप, दान, कीर्ति, अपकीर्ति ये प्राणियोंके नाना प्रकारके भाव मुझसे ही होते हैं ॥५॥ ब्रह्मा के मनसे उत्पन्न हुए पहले सात महर्षि, तथा चार मनु, जिन की संसारमें यह संपूर्ण प्रजा है, मेरे भाववाले हैं। ये सब मेरे मनमें स्थित और मेरे संकल्पके पीछे चलनेवाले हैं ॥६॥ जो मेरी इस विभूतिको और योगको तत्वसे जानता है, वह निश्चल भक्ति योगसे युक्त होता है; इसमें संशय नहीं है ॥७॥ मैं सब की उत्पत्ति का कारण हूँ, सब मुझसे ही प्रवृत्त किये जाते हैं।, ऐसा जानकर श्रद्धा और भक्तिसे युक्त हुए बुद्धिमान् (भक्त-जन), मेरा भजन करते हैं ॥८॥ मुझमें चित्तवाले, मेरे ही

अधीन प्राणों वाले, भक्त अपने अनुभवमें आये हुए मेरे गुणों को परस्पर समझाते हुए, और नित्य मेरे दिव्य रमणीय कर्मों का वर्णन करते हुए, संतुष्ट होते हैं और रमण करते हैं ॥ ६ ॥
 उन निरन्तर मुझमें लगे हुए भजन करनेवाले भक्तोंको मैं प्रीतिपूर्वक वह बुद्धियोग देता हूँ, जिससे वे मुझे प्राप्त होजाते हैं ॥ १० ॥
 उन्हीं पर अनुग्रह करने के लिये, उनके आत्मभाव में स्थित होकर, उनकी मनोवृत्तिमें प्रकट रूपसे विराजमान मैं, उनके अज्ञानसे उत्पन्न लौकिक विषयोंमें प्रीतिरूप अंधकारको ज्ञान रूप दीपकके द्वारा नाश कर देता हूँ ॥ ११ ॥

अर्जुन बोले—

आप परब्रह्म परमधाम, और परम पवित्र हैं । सब ऋषि

और देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास आपको सनातन दिव्य पुरुष, जन्मरहित, व्यापक, आदि देव कहते हैं। और आप स्वयं भी मुझसे ऐसा कहते हैं ॥ १२-१३ ॥ हे केशव, आप जो कुछ मुझसे कहते हैं वह सब मैं सत्य मानता हूँ, क्योंकि आपकी प्रकट होनेकी रीति को, हे भगवान् ! न देवता जानते हैं और न दानव ॥ १४ ॥ हे पुरुषोत्तम ! समस्त भूतोंको उत्पन्न करने वाले, सब भूतोंके ईश्वर, देवोंके भी परमदेव, जगन्नाथ, आप स्वयं ही अपने ज्ञानसे अपने आपको जानते हैं ॥ १५ ॥ जिन विभूतियोंसे इन लोकोंको व्याप्त करके आप स्थित हैं, उन अपनी दिव्य विभूतियोंका संपूर्णतासे वर्णन करनेमें आपही समर्थ हैं, ॥ १६ ॥ हे भगवान् ! मैं भक्तियोगी

आपका सदा चिन्तन करता हुआ आपको कैसे जानूँ ? आप मुझसे किन-किन भावोंमें चिन्तन किये जाने के योग्य हैं ? ॥१७॥ हे जनार्दन ! अपने योग और विभूतिको विस्तारपूर्वक आपफिर कहिये, क्योंकि आपके माहात्म्यरूप अमृतको सुनते-सुनते मेरी तृप्ति नहीं हो रही है ॥१८॥

श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! अब मैं तुझे अपनी कल्याणमयी दिव्य विभूतियोंको प्रधानता से कहूँगा, क्योंकि मेरे विस्तारका अन्त नहीं है ॥१९॥ हे गुडाकेश अर्जुन ! मैं सब भूतोंके हृदयमें स्थित आत्मा हूँ, और मैं ही सारे भूतोंका आदि, मध्य और अन्त हूँ, अर्थात् उनकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय

का कारण हूँ ॥२०॥ आदित्यों में विष्णु, ज्योतियों में किरणों-
 वाला सूर्य, मरुतों में मरीचि, और नक्षत्रों में चन्द्रमा मैं
 हूँ ॥२१॥ वेदों में सामवेद, देवताओं में इन्द्र, इन्द्रियों में मन,
 और भूतों की चेतना अर्थात् ज्ञान-शक्ति मैं हूँ ॥ २२ ॥ रुद्रों में
 शङ्कर, यक्षराक्षसों में कुबेर, वसुओं में पावक, और शिखरवाले
 पर्वतों में सुमेरु मैं हूँ ॥२३॥ हे पार्थ अर्जुन ! पुरोहितों में प्रमुख
 बृहस्पति मुझको जान । सेनापतियों में स्कन्द और सरोंवरों
 में सागर मैं हूँ ॥ २४ ॥ महर्षियों में भृगु, वाणियों में एक अक्षर
 हूँ, यज्ञों में जपयज्ञ और स्थावरों में हिमालय मैं हूँ ॥२५॥
 सब वृक्षों में पीपल, देवर्षियों में नारद, गन्धर्वों में चित्ररथ,
 सिद्धों में कपिल मुनि ॥२६॥ घोड़ों में अमृत-मन्थनके समय

उत्पन्न उच्चैःश्रवा, श्रेष्ठ हाथियोंमें ऐरावत, और नरोंमें राजा
 तू मुझको जान ॥ २७ ॥ शस्त्रोंमें वज्र, गौओंमें कामधेनु,
 उत्पत्तिका कारण कामदेव, और सर्पोंमें वासुकि मैं हूँ ॥ २८ ॥
 नागोंमें शेषनाग, जलचरोंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा, और
 दण्ड देनेवालोंमें यम मैं हूँ ॥ २९ ॥ दैत्योंमें प्रह्लाद, गिनती करने
 वालोंमें काल, मृगोंमें सिंह, पक्षियोंमें गरुड़ मैं हूँ ॥ ३० ॥ गमन
 करनेवालोंमें पवन, शस्त्रधारियोंमें राम, मछलियोंमें मगर
 और नदियोंमें श्रीगङ्गाजी मैं हूँ ॥ ३१ ॥ हे अर्जुन ! सृष्टियों का
 आदि, मध्य, अन्त मैं ही हूँ । विद्याओंमें अध्यात्म विद्या
 विवाद करनेवालोंमें वाद मैं हूँ ॥ ३२ ॥ अक्षरोंमें अकार
 समासोंमें द्वन्द्व नामक समास मैं हूँ । मैं ही अक्षय काल हूँ

मैं ही चारों ओर मुखवाला ब्रह्मा हूँ ॥३३॥ सबका हरण करने-
वाला मृत्यु, आगे उत्पन्न होनेवालोंकी उत्पत्तिका कारण मैं
हूँ । नारियोंमें कीर्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा
मैं हूँ ॥३४॥ मैं सामों अर्थात् गायन करने योग्य श्रुतियोंमें
बृहत्साम, और छन्दोंमें गायत्री, महीनोंमें मार्ग शीर्ष और
ऋतुओंमें वसन्त ऋतु मैं हूँ ॥३५॥ बल करनेवालोंका जुआ,
तेजस्वियोंका तेज, जीतनेवालोंकी जीत, निश्चय करने-
वालोंका निश्चय और सत्वयुक्त पुरुषोंका सत्व अर्थात् महान्
मनस्वीपन मैं हूँ ॥३६॥ वृष्णियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें अर्जुन
मैं हूँ । मुनियोंमें वेद व्यास और कवियोंमें उशना कवि अर्थात्
शुक्राचार्य मैं हूँ ॥३७॥ दण्ड देनेवालोंका दण्ड हूँ, जयकी

इच्छावालोंकी नीति हूँ, गुप्त रखने योग्य भावोंमें मौन और ज्ञानवानोंका ज्ञानभी मैं ही हूँ ॥३८॥ हे अर्जुन! जो भी सारे भूतों का बीज है, वह मैं हूँ । ऐसा कोई भी चराचर पदार्थ नहीं है, जो मेरे बिना हो ॥३९॥ हे परंतप अर्जुन! मेरी दिव्य विभूतियों का अन्त नहीं है । यह विभूतियों का विस्तार तो मेरे द्वारा संक्षेपसे कहा गया है ॥४०॥ जो-जो ऐश्वर्य युक्त, कान्तिमान धनधान्यसे समृद्ध या कल्याण प्राप्तिके उद्योगमें संलग्न है, वह-वह मेरे ही तेज के अंशसे उत्पन्न हुआ जान ॥४१॥ अथवा हे अर्जुन! इस बहुत जाननेसे तुझे क्या प्रयोजन है ? इस संपूर्ण जगत्को मैं अपने एक अंशसे धारण करके स्थित हूँ ॥४२॥

विभूतियोग नाम दशम अध्याय समाप्त

नाम
करत
उधर
यह
है
नहीं

“भग
की
मुझे

ग्यारहवें अध्याय का माहात्म्य

दक्षिणदिशा में विवाहमंडप नामका एक नगर था । वहाँ हालिका नाम का एक ब्राह्मण रहता था । वह खेती करके अपना जीवन निर्वाह करता था । एक दिन जब वह अपने खेतको रखा रहा था एक मनुष्य उधर से निकला । एक हिंसक जीवने उसे मारकर खा लिया । एक योगी यह सब कृत्य देख रहा था । उसने हालिका को श्राप दिया, “तू कठोर हृदय है अतएव राक्षस होगा, क्योंकि तूने इस असहाय यात्री की सहायता नहीं की । यदि तू इसकी सहायता करता तो इसके प्राण बच जाते ।”

हालिका योगीका श्राप सुनकर हाथ जोड़कर विनय करने लगा, “भगवन् ! मैंने तो इसको देखा ही नहीं । मैं निरपराधी हूँ अतएव क्षमा कीजिये । यह मैं जानता हूँ कि आपका श्राप निष्फल नहीं हो सकता और मुझे राक्षस होना ही पड़ेगा । पर आप मेरे उद्धार का उपाय बता सकते हैं ।”

योगी ने कहा, "जब गीताके ग्यारहवें अध्यायका नित्य पाठ करने वाला कोई ब्राह्मण गीताके मन्त्रोंसे अभिमन्त्रित जल तुम्हारे ऊपर छोड़ेगा, तब तुम राक्षस देहको त्याग कर परमपदको प्राप्त होगे।" यह कहकर योगी तो चले गये और हालिका तुरन्त राक्षस हो गया। अब वह ग्राम के लोगोंको मार मार कर खाने लगा। गाँव वालोंने उससे प्रार्थना की कि आप हम पर दया करिये। हमारे बजाय इस ग्राम में ठहरने वाले यात्रियों को खालिया करिये। हम यहाँ एक धर्मशाला यात्रियोंके ठहरनेके लिए बनवा देंगे। जो यात्री उसमें आकर ठहरें, उन्हें आप खालिया करिये। राक्षस ने गाँववालोंकी यह बात मान ली। गाँववालोंने धर्मशाला बनवा दी। उसमें यात्री ठहरने लगे और राक्षस उनको खाने लगा और गाँव वालों को खाना उसने बन्द कर दिया। एक दिन एक ब्रह्मज्ञानी ब्राह्मण बहुतसे ब्राह्मणोंके साथ इस गाँवमें आया और इस धर्मशाला में ठहर गया।

रात्रि
खाग
और
इस र
एक
उसे
द्वारप
अपने
कई
करता
ही न
द्वारप

वाला
 डेगा,
 कहकर
 म के
 गो कि
 यात्रियों
 लिये
 करिये।
 वा दी।
 तों को
 बहुतसे
 गया।

रात्रिमें वह राक्षस आया और उस ब्रह्मज्ञानीको छोड़कर सब ब्राह्मणों को
 खा गया। प्रातःकाल जब ब्रह्मज्ञानी चलने लगे, तो द्वारपालने एक दिन
 और ठहरने की प्रार्थना की। वह ठहर गये, और कई दिन तक ठहरे रहे।
 इस राक्षसने इनको न खा पाया। सब ग्राम वालों को बड़ा आश्चर्य हुआ।
 एक दिन और यात्री आये। उनमें इस द्वारपालके पुत्रका एक मित्र था।
 उसे वह भगाने आया। इतनेमें राक्षस आगया और यात्रियोंके साथ
 द्वारपाल के पुत्र को भी खा गया। द्वारपाल रोता पीटता राक्षस से
 अपने पुत्रके जिलानेके लिये प्रार्थना करने लगा। राक्षसने कहा, यदि “यह
 कई दिनसे ठहरा ब्राह्मण, जो गीता के ग्यारहवें अध्यायका नित्य पाठ
 करता है, हमारे ऊपर गीता के मन्त्र पढ़कर जल छिड़के, तो तुम्हारा पुत्र
 ही नहीं, अन्य सब यात्री जिनको मैंने आज तक खाया है, जी जावेंगे।”
 द्वारपालने ब्राह्मणसे जल छिड़कनेकी प्रार्थना की। उनके जल छिड़-

कते ही राक्षस-देहसे मुक्त हो हालिका ने दिव्य रूप धारण किया। आकाश से एक विमान आया। उस पर स्वयं बैठकर, और सब जीवित हुये यात्री भी दिव्य रूप धारण कर, उस विमानमें बैठकर वैकुण्ठ को चलने को उद्यत हुये। द्वारपाल ने अपने पुत्रसे न जानेके लिये कहा। पुत्र ने कहा, “पिताजी! आप किस मोह में पड़े हैं? कौन किसका पिता है और कौन किसका पुत्र है? कितने बार आप हमारे पुत्र हो चुके हैं? इस स्वर्ण अवसर पर हमको इस ब्राह्मण की कृपा से दिव्यलोक मिल रहा है। हम अक्षय लोक को जा रहे हैं। यह ब्राह्मण नित्य गीताके ग्यारहवें अध्यायका पाठ करता है। आप भी इससे पाठ सुनिये और हमारी तरह परमपद को प्राप्त होइये। इसी में कल्याण है। वे सब परमपद को गये। द्वारपाल भी ब्राह्मण से ग्यारहवाँ अध्याय पढ़कर उसका नित्य पाठ करने लगा। शरीर त्यागने पर उसे भी विष्णु लोक प्राप्त हुआ।

हरिः ॐ तत्सत्

[विश्वरूप दर्शन योग नाम ग्यारहवाँ अध्याय]

अर्जुन बोले—

मुझ पर कृपा करनेके लिये, अध्यात्म नामक जो परम गोपनीय उपदेश आपने कहा है, उससे मेरा यह मोह दूर हो गया है ॥ १ ॥ क्योंकि हे कमलनेत्र कृष्ण ! आपसे भूतोंकी उत्पत्ति और प्रलय, और आपका अविनाशी माहात्म्य भी निस्संदेह मेरे द्वारा विस्तार पूर्वक सुने गये ॥ २ ॥ हे परमेश्वर ! आप अपने को जैसा बतलाते हैं, यह ऐसा ही है । हे पुरुषोत्तम ! मैं आपके ईश्वर-रूपको देखना चाहता हूँ ॥ ३ ॥ हे प्रभो ! यदि आप ऐसा मानते हैं कि मेरे द्वारा वह आपका ईश्वररूप

देखा जाना संभव है, तो हे योगेश्वर ! आप मुझे अपने अविनाशी रूपको दिखलाइये ॥ ४ ॥

श्रीभगवान् बोले—

हे पार्थ अर्जुन ! तू मेरे नाना प्रकारके दिव्य, नाना वर्ण और आकार वाले, सैकड़ों तथा हजारों रूपों को देख ॥ ५ ॥ हे भारत अर्जुन ! तू देख आदित्यों को, वसुओं को, रुद्रों को, अश्विनीकुमारों को, और मरुतों को, और देख बहुतसे पहले न देखे हुए आश्चर्यमय रूपों को ॥ ६ ॥ हे गुडाकेश अर्जुन ! तू आज यहाँ मेरे शरीरमें, एक जगह स्थित, चराचरके सहित, सारे जगतको, तथा और भी जो कुछ देखना चाहता है उसे देख ॥ ७ ॥ परन्तु, अपने इस नेत्रसे तू मुझे देखनेमें समर्थ नहीं

हैं। मैं तुम्हें दिव्य नेत्र देता हूँ। तू मेरे ईश्वर-योगको देख ॥८॥

संजय बोले—

हे राजन्! ऐसा कहकर तब महा योगेश्वर हरिने अर्जुन को अपना परम ईश्वररूप दिखलाया ॥९॥ वह रूप अनेक मुख-नेत्रों वाला, अनेक अद्भुत दर्शन वाला, अनेक दिव्य भूषणों वाला, और अनेक दिव्य शस्त्रों को उठाये हुए दिव्य माला, वस्त्र धारण किये हुए, दिव्य गन्ध लेपन किये हुए, सब प्रकारसे आश्चर्यमय, प्रकाशमय, अनन्तरूप, और सब ओर सुखवाला था ॥ १०-११ ॥ आकाशमें यदि हजार सूर्यों की प्रभा एक साथ उदय हो जाय, तो वह उस महान् आत्मा की प्रभाके सदृश कदाचित् ही हो सकती है ॥१२॥ तब अर्जुनने

वहाँ देवोंके देव श्रीकृष्णके शरीरमें एक देशमें स्थित अनेक प्रकार से विभक्त हुए संपूर्ण जगतको देखा ॥ १३ ॥ तब वह आश्चर्यसे पूर्ण और रोमाञ्चसे युक्त अर्जुन श्रीकृष्णको शिरसे प्रणाम करके हाथ जोड़े हुए बोला ॥ १४ ॥

अर्जुन बोले—

हे देव ! आपके शरीरमें सब देवताओं को, प्राणियों के अनेक समूहों को, कमलासन में स्थित ब्रह्मा को, महादेव को, सब ऋषियों को और तेजस्वी सर्पों को, मैं देख रहा हूँ ॥ १५ ॥ आप को मैं अनेक भुजायें, पेट, मुख, नेत्रों से युक्त, तथा सब ओर से अनन्त रूप वाला देख रहा हूँ हे विश्व के ईश्वर ! विश्वरूप ! मैं आपके न अन्तको, न

मध्य को, और न आदि को ही देख पाता हूँ ॥ १६ ॥ तेज की राशि, सब ओरसे प्रकाशमान, सब ओरसे कठिनतापूर्वक देखे जानेवाले, जलती हुई अग्नि तथा सूर्यकी सी चमकवाले, और उपमा रहित स्वरूप आपको मैं मुकुटधारी, गदाधारी और चक्रधारी भी देख रहा हूँ ॥ १७ ॥ आप जानने योग्य परम अक्षर हैं, आप इस विश्वके परम आधार हैं, आप अविनाशी हैं, शाश्वत धर्मके रक्षक हैं और सनातन पुरुष हैं । इस प्रकार मैंने आपको जाना है ॥ १८ ॥ मैं आपको आदि, मध्य और अन्तसे रहित, अनन्त शक्तिशाली, अनन्त भुजाओं से युक्त, चन्द्र सूर्यके समान नेत्रवाले, जलती हुई अग्निके समान मुखवाले और अपने तेजसे इस विश्व को तपाते हुए

देख रहा हूँ ॥ १६ ॥ हे महात्मन् ! द्युलोक और पृथ्वी का यह मध्य भाग, और सब दिशाएँ, एक आपसे ही व्याप्त हैं । आप के इस अद्भुत भयंकर रूपको देखकर तीनों लोक अत्यन्त व्यथित हो रहे हैं ॥ २० ॥ ये देवताओं के समूह आपमें ही समा रहे हैं । कितने ही डरे हुए हाथ जोड़े स्तुति कर रहे हैं । महर्षियों और सिद्धों के समूह “कल्याण हो” ऐसा कहकर आपके अनुरूप उत्तम-उत्तम स्तुतियोंसे आपकी स्तुति कर रहे हैं ॥ २१ ॥ जो ग्यारह रुद्र और बारह आदित्य तथा आठ वसु, साध्य, विश्वेदेव, दोनों अश्विनीकुमार, मरुत, उष्मपा (पितृगण), गन्धर्व, यक्ष, असुर, और सिद्धों के समूह—ये सब के सब आश्चर्ययुक्त आपको देख रहे हैं ॥ २२ ॥ हे महाबाहो !

ब
पे
वा
अ
छ
वा
भी
रह
वि
हैं
प्र

बहुत मुख-नेत्रोंवाले; बहुत भुजा, जाँघ और पैरोंवाले; बहुत पेटवाले; और बहुतसी दाढ़ोंके कारण भयानक आकार वाले, आपके महानरूप को देखकर, ये लोक और मैं सभी अत्यन्त भयभीत हो रहे हैं ॥ २३ ॥ हे विष्णो ! आपको आकाश छूनेवाले, प्रकाशमान, अनेक वर्णों वाला, फैलाये हुए मुखों वाला, प्रज्वलित बड़े-बड़े नेत्रोंवाला देखकर, अत्यन्त भयभीत चित्त हुआ मैं निस्संदेह धैर्य और शान्ति को नहीं पा रहा हूँ ॥ २४ ॥ आपके प्रलय कालीन अग्निके समान और विकराल दाढ़ोंवाले मुखोंको देखकर, न मुझे दिशाएँ सूझती हैं और न शान्ति ही पाता हूँ । हे जगन्निवास ! देवेश ! आप प्रसन्न होइये ॥ २५ ॥ ये धृतराष्ट्रके सब पुत्र दुर्योधनादि, सभी

राजाओंके समूहके साथ, तथा, भीष्म, द्रोण और वह सूतपुत्र
 कर्ण भी हमारे मुख्य योद्धाओंके साथ ॥ २६ ॥ बड़ी जल्दी
 से, आपके विकराल और भयङ्कर दाढ़ीवाले मुखोंमें घुसे चले
 जाते हैं । कितने ही तो चूर्ण हुए सिरोंके साथ दाँतोंके दराजों
 में लगे हुए दिखाई देते हैं ॥ २७ ॥ जिस प्रकार नदियोंके बहुतसे
 जलप्रवाह समुद्रकी ओर मुख किये दौड़े जाते हैं, वैसे ही
 ये नरलोकके वीर आपके सब ओरसे प्रज्वलित मुखोंमें घुसे
 जाते हैं ॥ २८ ॥ जैसे पतङ्ग अपने नाशके लिये पूरे वेगसे जलती
 हुई अग्नि ज्वालामें प्रवेश करते हैं, वैसे ही ये लोग भी पूरे
 वेगसे अपने नाशके लिये आपके मुखों में प्रवेश कर रहे
 हैं ॥ २९ ॥ हे विष्णो ! आप अपने प्रज्वलित मुखोंसे सब ओर

से सभी लोगोंको अपना ग्रास बनाते हुए, उनमें रुधिरसे भीगे अपने ओठों को जीभसे बार-बार चाट रहे हैं। आपकी भयंकर किरणें सब जगत को अपने तेजसे परिपूर्ण कर तपा रही हैं ॥ ३० ॥ मुझे बतलाइये कि उग्ररूप धारी आप कौन हैं? आपको नमस्कार है। हे देवश्रेष्ठ! आप प्रसन्न होइये, आप आदि पुरुष को मैं जानना चाहता हूँ, क्योंकि मैं आपकी इच्छित प्रवृत्ति को नहीं जानता ॥ ३१ ॥

श्री भगवान् बोले—

मैं लोकोंके नाश करनेवाला बड़ा हुआ काल हूँ। लोकों का संहार करनेके लिये यहाँ प्रवृत्त हुआ हूँ। ये सब योद्धा, जो दुश्मनकी सेनामें स्थित हैं, तेरे बिना भी नहीं बचेंगे ॥ ३२ ॥

इसलिये तू उठ, यशको प्राप्तकर, शत्रुओंको जीतकर समृद्ध राज्यको भोग। मेरे द्वारा ये सब पहले से ही मारे हुए हैं, हे सव्यसाचिन (अर्थात् बायें हाथ से भी बाण चलाने वाले अर्जुन) तू निमित्त मात्र होजा। द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण और अन्य भी वीरयोद्धा, उन मेरे द्वारा मारे हुए हैं तू मार, घबड़ा मत, युद्ध कर, युद्ध में तू शत्रुओं को जीतेगा ॥ ३४ ॥

संजय बोले—

केशवके ये वचन सुनकर, किरीटधारी अर्जुन, हाथ जोड़े हुए, काँपते हुए, नमस्कार करके, फिर भी भयभीत हुए। प्रणाम करके, भगवान् श्रीकृष्णके प्रति गद्गद वाणीसे बोला ॥ ३५ ॥ हे इन्द्रियों के स्वामी कृष्ण! यह

उचित है कि आपके यश कीर्तनसे जगत् अत्यन्त हर्षित और अनुरागको प्राप्त हो रहा है। राजस लोग भयभीत हुए दिशाओंको भाग रहे हैं और सब सिद्धोंके समूह आपको नमस्कार कर रहे हैं ॥३६॥ हे महात्मन् ! ब्रह्माके भी आदिकारणभूत कर्ता, सबसे महान्, आप परमेश्वरको ब्रह्मादि देव क्यों न नमस्कार करें ? हे अनन्त ! देवताओंके ईश, जगन्निवास, आप ही अक्षर जीवात्मतत्त्व हैं। सत्, असत् और इससे भी जो परे है वह आप हैं ॥ ३७ ॥ आप आदिदेव, पुरातन पुरुष, और इस विश्वके परम आधार हैं। जगत्में संपूर्ण जाननेवाले और जानने योग्य भी आपही हैं, आपही परमधाम अर्थात् परम प्राप्य स्थान हैं। हे अनन्त

रूप ! आपसे यह संपूर्ण विश्व व्याप्त है ॥३८॥ आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्रमा, प्रजापति और प्रपितामह हैं । आपको हजारबार नमस्कार है और फिर बारबार आपको नमस्कार है ॥३९॥ हे सर्वरूप, आपको आगेसे, पीछेसे, तथा सभी ओर से बारबार नमस्कार है । आप अनन्त शक्ति और अपरिमित पराक्रमवाले हैं, आप सबको व्याप्त कर रहे हैं, अतएव सर्वरूप हैं ॥४०॥ आपकी इस महिमाको न जाननेवाले मुझमूर्ख के द्वारा, मोहसे या पुराने परिचयके कारण 'सखा हैं' ऐसा मानकर जो 'हे कृष्ण ! हे यादव ! हे सखे !' ऐसा अविनयपूर्वक कहा गया है ॥४१॥ तथा परिहासके लिये, अकेलेमें अथवा उन सखाओंके सामने, चलते, सोते बैठते और भोजन

कर
उस
पर
के
अ
नह
दए
प्रए
की
भी
पह

करते समय, मुझसे आपका जो तिरस्कार किया गया है, उस सब अपराध का, हे अच्युत ! आप अचिन्त्य प्रभाववाले परमेश्वरसे मैं क्षमा माँगता हूँ ॥४२॥ आप इस चराचर लोक के पिता और गुरुसे भी बड़े गुरु, अति पूजनीय हैं । हे अतिशय प्रभाववाले, तीनों लोकोंमें आपके समान भी दूसरा नहीं है, फिर आपसे अधिक कैसे होवे ॥ ४३ ॥ इसलिये मैं दण्डवत् प्रणाम करके आप स्तुति करने योग्य ईश्वरको मैं प्रणाम करता हूँ । हे देव ! पिता जैसे पुत्रकी, सखा जैसे सखाकी, धृष्टता सहता है । वैसे ही देव ! आप प्रियतम परमेश्वरको भी मुझ प्रेमीके लिये सब कुछ सहन करना उचित है ॥४४॥ पहले न देखे हुए रूपको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ और

भयसे मेरा मन अत्यन्त व्यथित हो रहा है । हे देव ! वही रूप मुझको दिखलाइये । हे देवोंके ईश, हे जगन्निवास, प्रसन्न होइये ॥ ४५ ॥ मैं आपको वैसाही मुकुटधारी, गदाधारी, और हाथमें चक्र धारण किये देखना चाहता हूँ । हे सहस्रबाहो ! विश्वमूर्ते ! आप उसी चतुर्भुज रूपसे युक्त हो जाइये ॥ ४६ ॥

श्री भगवान् बोले—

हे अर्जुन ! प्रसन्न हुए मुझसे तुझको यह परम तेजसे युक्त, अनन्त, आद्य विश्वरूप अपने योगबलसे दिखाया गया है जो तुझको छोड़ किसी दूसरेने पहले नहीं देखा था ॥ ४७ ॥ हे कुरुवंशके श्रेष्ठ वीर अर्जुन ! मनुष्य लोकमें इस प्रकार

के रूपवाला मैं, न तो वेद से, न यज्ञ से, न स्वाध्याय से, न दानों से, न क्रियाओं से, और न उग्र तपों से भी तुझे छोड़ दूसरे से देखा जा सकता हूँ ॥ ४८ ॥ ऐसे घोर रूपको देख कर तुझे व्यथा और मूढ़भाव नहीं होना चाहिये । भयको छोड़ कर, और प्रसन्न चित्त होकर तू फिर उसी रूपको भली भाँति देख ॥ ४९ ॥

संजय बोले—

इस प्रकार अर्जुनको कहकर, फिर वासुदेव भगवान् ने अपना वैसा चतुर्भुज रूप दिखलाया । इस प्रकार महात्मा कृष्णने सौम्यरूप होकर इस भयभीत अर्जुनको फिर धीरज दिया ॥ ५० ॥

हे जनार्दन ! आपके इस सौम्य मनुष्य रूपको देखकर अब मैं सचेत हो गया हूँ और अपनी प्रकृति को प्राप्त हुआ हूँ ॥ ५१ ॥

श्रीभगवान् बोले—

जो मेरे इस अति कठिनतासे देखे जाने योग्य रूपको तूने देखा है, देवता भी इस रूपके दर्शनकी नित्य आकांक्षा करते हैं ॥ ५२ ॥ हे अर्जुन जिस प्रकार तूने मुझे देखा है, उस प्रकार मैं न वेदोंसे, न तपसे, न दानसे, और न यज्ञ से देखा जा सकता हूँ ॥ ५३ ॥ परन्तु, हे परन्तप अर्जुन ! अनन्त भक्तिसे मैं इस प्रकार तत्त्व से जाना जा सकता हूँ, देखा जा

सकता हूँ और प्रवेश किया जा सकता हूँ ॥५४॥ हे पाण्डव !
मेरा कर्म करनेवाला, मेरा परायण, अर्थात् मेरी प्राप्तिमें
तत्पर, मेरा भक्त, स्त्रीपुत्र धनादिके संगरहित, और सब भूतों
में वैर रहित मुझे प्राप्त होता है ॥ ५५ ॥

विश्वरूप दर्शन योग नाम ग्यारहवाँ अध्याय समाप्त ।

बारहवें अध्याय का माहात्म्य

कोल्हापुर नामके प्रसिद्ध नगरमें बृहद्रथ नामका राजा रहता था। उसने विधिपूर्वक अश्वमेध यज्ञका अनुष्ठान किया। उसी समय राजा बीमार हुआ और मर गया। तब यज्ञ करानेवालों ने यह निश्चय किया कि राजाका शव तेलमें रखकर सुरक्षित रखा जावे और यज्ञका घोड़ा लौटने पर राजा का पुत्र यज्ञ समाप्त करे। राजाका शव तेलमें रख दिया गया। यज्ञका घोड़ा भी देशभरमें घूमकर लौट आया। दैवयोगसे आते ही उसे कोई चुरा लेगया। बहुत खोज करने पर भी उसका पता न लगा। इस पर राजकुमार दुःखित होकर देवी के मंदिर में जाकर भगवती से प्रार्थना करने लगा, “हे माता ! हमारी लाज रक्खो। मैं आपकी शरण हूँ। मेरे पिताकी मृत्यु होगई है। यज्ञका घोड़ा भी कोई चुरा लेगया। मुझे इस धर्म संकटसे बचाइये। आप सर्वव्यापी हैं। तीनों लोकों में कोई ऐसा

स्थान नहीं है जहाँ आप न हों। अतएव मेरे ऊपर दया करिये। और मेरा घोड़ा मिलजाय ऐसी कृपा कीजिये।” इस प्रकार स्तुति करने पर देवी प्रसन्न होकर बोली, “राजकुमार! मंदिर के द्वार पर एक सिद्ध ब्राह्मण रहता है। उसके पास जाओ, वह तुम्हारा घोड़ा मँगा देगा।” देवी की आज्ञा पाकर राजकुमार ब्राह्मणके पास गया और उससे अपनी दुख-कहानी सुनाई। ब्राह्मणने देवताओं का ध्यान किया। इन्द्र आदि देवता सब उपस्थित हो गये। ब्राह्मणने कहा, “इस राजकुमार का घोड़ा जहाँ हो इसे लाकर दीजिये।” ब्राह्मणके कहने पर देवताओंने घोड़ा ला दिया। राजकुमार बहुत प्रसन्न हुआ और ब्राह्मणके प्रभावको देखकर चकित होगया। उसने फिर ब्राह्मणसे प्रार्थना की, “भगवन्! आपके अद्भुत प्रभाव को देखकर मुझे परम आश्चर्य हो रहा है। इतनी कृपा मेरे ऊपर और कीजिये कि मेरे मृतक पिताको जिनका शव तेलमें रक्खा है जीवित

कर दीजिये ।” ब्राह्मणको दया आगई । वह उस शवके पास गया । कुछ मन्त्र पढ़कर उस पर जलके छींटे दिये । जलके छींटे देते ही राजा जीवित हो उठा और ब्राह्मण को दण्डवत् प्रणाम कर पूछने लगा, “भगवन् ! यह शक्ति आपको कैसे प्राप्त हुई जिसके प्रभाव से आपने ऐसा अद्भुत कर्म किया कि मुझ मृतकको जीवनदान दिया ?” ब्राह्मण ने कहा, “मैं सदा गीताके बारहवें अध्याय का पाठ किया करता हूँ, यह उसी का प्रभाव है ।” राजा बृहद्रथ यज्ञ समाप्त करके गीताके बारहवें अध्यायका पाठ करने लगा । अन्त को वह शरीर त्यागकर वैकुण्ठलोक को गया ।

हरिः ॐ तत्सत्

[भक्तियोग नाम बारहवाँ अध्याय]

अर्जुन बोले—

इस प्रकार निरन्तर प्रयत्न करनेवाला जो भक्त आपकी परिपूर्ण उपासना करते हैं, और जो अव्यक्त अक्षरकी उपासना करते हैं, उन दोनों में उत्तम योग जाननेवाला कौन है ॥ १ ॥

श्रीभगवान् बोले—

जो परम श्रद्धाके साथ, मेरा नित्य संयोग चाहनेवाले भक्तजन, मुझमें ही मन लगाकर, मेरी उपासना करते हैं,

उनको मैं योगियोंमें श्रेष्ठ मानता हूँ ॥ २ ॥ परन्तु, जो
 इन्द्रियोंके समूहको भली भाँति रोककर, सब जगह सम-
 बुद्धि होकर, सब प्राणियोंके हित में लगकर, अविनाशी,
 अकथनीय स्वरूप, निराकर, सर्वव्यापक, मन बुद्धिसे परे,
 सदा एकरस रहनेवाले, अचल और नित्य आत्माकी उपा-
 सना करते हैं, वे भी मुझे ही प्राप्त होते हैं ॥३-४॥ उस निरा-
 कारमें चित्त लगानेवाले पुरुषोंको क्लेश अधिकतर होता है;
 क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्त विषयक गति दुःख-
 पूर्वक प्राप्तकी जाती है ॥५॥ परन्तु, जो सब कर्मोंको मुझमें
 संन्यास करके केवल एकमात्र मुझको ही प्राप्य समझकर,
 अनन्य योगसे मेरा ही चिन्तन करते हुये मेरी उपासना

करते हैं ॥६॥ हे पार्थ ! उन मुझमें चित्त लगाये रखनेवालोंका मैं मृत्युरूप संसार-सागरसे शीघ्र ही भली भाँति उद्धार करनेवाला होता हूँ ॥७॥ तू मुझमें ही मन लगा, मुझमें ही बुद्धिको लगा । इसके बाद तू मुझमें ही निवास करेगा इसमें संशय नहीं है ॥८॥ यदि तू मुझमें चित्तको स्थिरता-पूर्वक स्थापन करनेमें समर्थ नहीं है, तो हे धनंजय अर्जुन, अभ्यास योगसे तू मुझे प्राप्त करनेकी इच्छा कर ॥ ९ ॥ यदि तू अभ्यासमें भी असमर्थ है तो मेरे कर्मपरायण* हो जा । मेरे अर्थ कर्मकरता हुआ भी तू सिद्धिको प्राप्त हो जायगा ॥१०॥

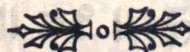
* सत्कर्मपरायण—जैसे मंदिर बनवाना, उसमें बगीचे लगवाना, दीपक जलाना, झाड़ू देना, उसे घोना, जागन लीपना, पूजा के लिये फूल लाना, पूजन करना, कीर्तन करना, स्तुति करना इत्यादि जो मेरे कर्म हैं, उनका प्रेम से आचरण कर ।

यदि मेरे योगका आश्रय लेकर इस प्रकार करनेमें भी तू
 समर्थ नहीं है, तो मनको संयममें रखकर सब कर्मोंके फलका
 त्याग कर ॥ ११ ॥ अभ्याससे ज्ञान श्रेष्ठ है, ज्ञानसे ध्यान
 विशेष है, ध्यानसे कर्मफलत्याग श्रेष्ठ है, क्योंकि त्यागके
 बाद शान्ति होती है ॥ १२ ॥ सब भूत प्राणियोंके साथ द्वेष
 न करनेवाला, मित्रता और दया भाववाला, ममता और
 अहङ्कारसे रहित, सुख दुखमें समान, क्षमाशील ॥ १३ ॥
 संतुष्ट, नित्य योगी, मनको वशमें रखनेवाला, दृढ़ निश्चय-
 वाला, मुझमें अर्पण किये हुए मन बुद्धिवाला जो मेरा भक्त
 है, वह मुझे प्रिय है ॥ १४ ॥ जिससे संसार उद्देग नहीं करता,
 और जो संसार से उद्देगको प्राप्त नहीं होता, जो हर्ष, अर्थात्

दूसरेकी उन्नति को देखकर संताप, भय, तथा उद्वेगसे मुक्त है, वह भी मेरा प्यारा है ॥ १५ ॥ आत्माके अतिरिक्त समस्त वस्तुओंमें अपेक्षासे रहित, पवित्र शास्त्रीय क्रियाके संपादनमें चतुर, अन्य क्रियाओंसे उदासीन, व्यथासे रहित, सारे आरम्भोंका त्यागी जो मेरा भक्त है, वह मेरा प्यारा है ॥ १६ ॥ जो न हर्ष करता है, न द्वेष करता है, न शोक करता है, न आकांक्षा करता है, और शुभ-अशुभ दोनोंका त्यागी है, जो ऐसा भक्त है, वह मुझे प्यारा है ॥ १७ ॥ शत्रु-मित्र, मान-अपमानमें एक समान; शीत-उष्ण, सुखःदुखमें एक समान; आसक्तिसे रहित ॥ १८ ॥ निन्दा-स्तुतिको समान समझनेवाला, मौनी, जिस किसीसे भी संतुष्ट, गृह आदिमें

अनासक्त, स्थिर मतिवाला जो भक्तिमान् पुरुष है, वह मेरा प्रिय है ॥ १९ ॥ परन्तु जो पहले कहे हुए धर्मरूपी अमृतका अनुष्ठान करते हैं, वे श्रद्धायुक्त, मेरे परायण भक्त, मुझे अत्यन्त प्यारे हैं ॥ २० ॥

भक्तियोग नाम बारहवाँ अध्याय समाप्त



तेरहवें अध्यायका माहात्म्य

दक्षिण देशमें तुंगभद्रा नदीके किनारे हरिहरपुर नामका एक नगर था । वहाँ हरिदीक्षित नामका एक ब्राह्मण रहता था । उसकी स्त्री बड़ी दुष्टा तथा दुराचारिणी थी । स्त्रियोंमें जितने कुलक्षण हो सकते हैं उसमें सब मौजूद थे । मदिरा वह पीती थी । घर-घर वह घूमती थी । सबसे लड़ाई भगड़ा करना उसका काम था । परपुरुषोंसे प्रेम वह करती थी ।

एक दिन वसन्तऋतु की चाँदनी रातमें किसी बनमें जा वह अपने प्रेमीके वियोगमें रोने लगी । उस बनमें एक सिंह रहता था । उसने उसके रोनेका शब्द सुनकर उसको चीरफाड़कर खा डाला । मरकर वह नरकमें गई । अंत में एक चांडालके घरमें वही स्वभाव लेकर उत्पन्न हुई और वैसे ही बुरे कर्म करने लगी । उसके घर के थोड़ी दूर पर एक शिवजीका मंदिर था । उसमें

एक ब्राह्मण गीताके तेरहवें अध्यायका पाठ करता था । संयोगवश वहाँ वह गई और वृक्षके नीचे बैठ गई । गीताका पाठ इसके भी कानमें पड़ा । उसके सब पाप छूट गये । अंतमें मरने पर विमानमें बैठकर वैकुण्ठलोक को गई ।

हरिः ॐ तत्सत्

[क्षेत्रक्षेत्रज्ञ विभाग योग नाम तेरहवाँ अध्याय]

श्रीभगवान् बोले—

हे कौन्तेय अर्जुन ! यह शरीर 'क्षेत्र' है, ऐसा कहा जाता है । जो इसको जानता है, उसको उसे जाननेवाले 'क्षेत्रज्ञ' ऐसा कहते हैं ॥ १ ॥ और हे अर्जुन ! सब क्षेत्रों में क्षेत्रज्ञ भी तू मुझको जान । क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ का जो ज्ञान है, वही ज्ञान है, यह मेरा मत है ॥ २ ॥ वह 'क्षेत्र' जो है, और जैसा है, जिस विकारवाला है, और जिस कारणसे यह उत्पन्न हुआ है अर्थात् जिस प्रयोजनके लिये उत्पन्न हुआ है, एवं यह जिस स्वरूपवाला है, तथा वह क्षेत्रज्ञ भी, जिस स्वरूप-

वाला और जिस प्रभाववाला है, वह सब तू मुझसे संक्षेप में
 सुन ॥३॥ क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ का स्वरूप पराशर आदि ऋषियों-
 के द्वारा बहुत प्रकारसे कहा गया है; नाना प्रकारके वेद-
 मन्त्रोंके द्वारा पृथक्-पृथक् कहा गया है; और ऐसेही निश्चित
 अर्थवाले, मुक्ति से युक्त, ब्रह्मसूत्र के पदों से भी कहा गया
 है ॥ ४ ॥ महाभूत-पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश,
 अहङ्कार-जो भूतों का आदिकारण है, बुद्धि, अव्यक्तप्रकृति,
 दश इन्द्रियाँ, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ-श्रोत्र, त्वचा, चक्षु, रसना,
 घ्राण; पाँच कर्मेन्द्रियाँ-वाक्, हाथ, पैर, गुदा और उपस्थ,
 एकमन पाँच इन्द्रियोंके विषय शब्द, स्पर्शरूप, रस, गन्ध; ॥५॥
 इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख ये क्षेत्र के कार्य हैं; चेतन के आधार

रूप से उत्पन्न यह भूत संघात क्षेत्र है। यह क्षेत्र संक्षेप से कार्यों सहित कहा गया है ॥ ६ ॥ मानहीनता, अर्थात् उत्तम पुरुषों के प्रति तिरस्कारबुद्धि न होना, दम्भहीनता अर्थात् धार्मिकपनके यशकी प्राप्तिके लिये धर्मानुष्ठान करनेका नाम दम्भ है, उसका न होना, अहिंसा अर्थात् मन वाणी और शरीरसे दूसरेको पीड़ा न पहुँचना, क्षमा अर्थात् दूसरों के द्वारा पीड़ित किये जाने पर भी चित्त में विकार न होना, सरलता, आचार्य की उपासना, शौच, स्थिरता, और मन का भली भाँति निग्रह, इन्द्रियोंके भोगोंमें वैराग्य और अहङ्कारहीनता, तथा जन्म, मृत्यु, बुढ़ापा-व्याधि, और दुख-रूप दोषों का देखना अर्थात् शरीर से युक्त रहने तक ये सब

अनिवार्य हैं, इस बात का विचार करते रहना । आत्माके अतिरिक्त अन्य विषयों में आसक्ति का अभाव; पुत्र, स्त्री और घर आदि में लिप्त न होना; तथा इष्ट और अनिष्ट की प्राप्ति में सदा चित्त की समता अर्थात् हर्ष और उद्वेगसे रहित रहना । मुझमें अनन्य योगसे अव्यभिचारिणी भक्ति, एकान्त देशके सेवन करने का स्वभाव, और जनसमुदाय में प्रीति न होना, अध्यात्मज्ञान में नित्य स्थिति, तत्त्वज्ञान के अर्थका दर्शन; यह सब ज्ञान है । इसके विपरीत जो है, वह अज्ञान है, ऐसा कहा गया है ॥ ७-११ ॥ मानहीनता आदि साधनों द्वारा जानने योग्य जो जीव है, वह बतलाऊँगा; जिसको जानकर मनुष्य अमृत रूप आत्माको प्राप्त करता है । वह अनादि,

मत्पर अर्थात् मैं जिसका स्वामी होऊँ और ब्रह्म है यानी ब्रह्मा के गुणों से युक्त है, शरीरसे भिन्न वस्तु है, वह आत्मतत्त्व न सत् और न असत् ही कहा जा सकता है। अर्थात् कार्य और कारणरूप दोनों अवस्थाओं से रहित होने के कारण वह न सत् है, न असत् ॥ १२ ॥ वह क्षेत्रज्ञ सब ओर हाथ-पैरवाला; सब ओर नेत्र, सिर, मुखवाला; तथा सब ओर कानवाला है; तथा इस गजत्में सबको ढक करके स्थित हो रहा है ॥ १३ ॥ वह सब इन्द्रियों के गुणों के द्वारा भासमान, सब इन्द्रियों से रहित, और असक्त है, परन्तु सबका धारण करता है, और वैसे ही निर्गुण है, परन्तु गुणों का भोक्ता भी है ॥ १४ ॥ वह भूतों के भीतर और बाहर है, चर और अचर भी है। सूक्ष्म

होनेके कारण वह जानने में नहीं आता है। वह दूरी पर स्थित है और समीप में भी है ॥ १५ ॥ वह सब भूतों में विभागरहित है पर विभक्त की तरह स्थित है। तथा वह जानने योग तत्त्व सब भूतों का भर्ता, ग्रसनेवाला, और उत्पन्न करनेवाला भी है ॥ १६ ॥ वह ज्योतियों का भी ज्योति और प्रकृति से परे कहा जाता है; वह ज्ञान, रूप से जानने के योग्य है यानी केवल ज्ञानस्वरूप है; तथा वह ज्ञानगम्य अर्थात् बतलाये हुए ज्ञान साधनों के द्वारा प्राप्त हो सकनेवाला है और सबके हृदय में स्थित है ॥ १७ ॥ इस प्रकार ज्ञान और ज्ञेय संक्षेपसे कहा गया है। मेरा भक्त इसको जानकर मेरे प्राप्त होने के योग्य बन जाता है ॥ १८ ॥ प्रकृति और पुरुष इन दोनों को

ही तू अनादिजान । और सबविकारों तथा गुणों को तू प्रकृति से उत्पन्न हुआ जान ॥ १९ ॥ कार्य-कारणके कर्त्तापन में प्रकृति हेतु कहलाती है । सुख-दुखके भोक्तापन में पुरुष हेतु कहलाता है ॥ २० ॥ पुरुष प्रकृति में स्थित हुआ ही, प्रकृति के उत्पन्न गुणों को भोगता है । गुणों का संग उसके अच्छी-बुरी योनियों में जन्म का कारण है ॥ २१ ॥ इस शरीर में यह पर पुरुष साक्षी की तरह समीप बैठकर देखनेवाला है, ठीक सम्मति देनेवाला है, भरण पोषण करनेवाला, भोगों को भोगनेवाला, शरीरमात्र का महेश्वर और परमात्मा भी है—ऐसा कहा गया है ॥ २२ ॥ जो इस पुरुष को और गुणों के सहित प्रकृति को जानता है, वह सब प्रकार

से वर्तता हुआ भी फिर जन्म ग्रहण नहीं करता ॥ २३ ॥
 कितने ही पुरुष आत्मा अर्थात् शरीरमें स्थित आत्माको
 आत्मा अर्थात् मनसे ध्यानके द्वारा देखते हैं, कितने ही सांख्य-
 योगके द्वारा और दूसरे कर्मयोगके द्वारा देखते हैं ॥ २४ ॥
 दूसरे ऐसा न जानते हुए, दूसरोंसे सुनकर उपासना करते हैं ।
 वे श्रवण-निष्ठ पुरुष मृत्युसे अवश्य तर जाते हैं ॥ २५ ॥ हे
 भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! चर अचर रूपसे जितने भी प्राणी उत्पन्न
 होते हैं, उन सबको क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके पारस्परिक संयोगसे
 ही उत्पन्न हुआ जान ॥ २६ ॥ जो पुरुष समस्त भूतप्राणियोंमें
 शरीरादिके नष्ट होते हुए भी उनके स्वामी आत्माको नाश-
 रहित तथा समभावसे स्थित देखता है, वही यथार्थ देखता

है ॥ २७ ॥ क्योंकि, सर्वत्र समभावसे स्थित ईश्वरको एक समान देखता हुआ, वह आत्मा अर्थात् मनके द्वारा आत्मा का हनन नहीं करता, इसलिये वह परम गतिको प्राप्त होता है ॥ २८ ॥ जो कर्मोंको सब प्रकारसे प्रकृतिके द्वारा ही किये हुए देखता है, और आत्माको अकर्ता देखता है, वह यथार्थ देखता है ॥ २९ ॥ जिस समय मनुष्य भूतों के पृथक् भावको एक अर्थात् प्रकृतिमें स्थित और उस अर्थात् प्रकृतिसे ही भूतोंके विस्तारको देखता है, उसी समय ब्रह्मको प्राप्त हो जाता है ॥ ३० ॥ हे कुन्ती पुत्र अर्जुन ! अनादि और निर्गुण होनेसे यह अव्यय परमात्मा, शरीरमें स्थित हुआ भी, न करता है, न लिप्त होता है ॥ ३१ ॥ जैसे समस्त वस्तुओंसे

संयुक्त होने पर भी आकाश सूक्ष्म होनेके कारण सब वस्तुओं के स्वभावोंसे लिप्त नहीं होता, वैसे ही आत्मा शरीरमें सर्वत्र स्थित हुआ भी लिप्त नहीं होता ॥ ३२ ॥ हे भारत अर्जुन ! जैसे एक ही सूर्य इस सब लोकको प्रकाशित करता है, वैसे ही क्षेत्रज्ञ सब क्षेत्रोंको प्रकाश करता है ॥ ३३ ॥ इस प्रकार क्षेत्र-क्षेत्रज्ञके भेदको और भूत-प्रकृतिके मोक्षको जो ज्ञाननेत्रोंके द्वारा जान लेते हैं वे परम तत्त्वको प्राप्त कर लेते हैं ॥ ३४ ॥

क्षेत्र-क्षेत्रज्ञविभागयोग नाम तेरहवाँ अध्याय समाप्त

चौदहवें अध्याय का माहात्म्य

महाराष्ट्र देशमें एक ब्राह्मण रहता था । उसकी स्त्री बड़ी दुष्टा और व्यभिचारिणी थी । एक दिन अपनी स्त्रीके व्यभिचारको देखकर ब्राह्मणसे न रहा गया । उसने तलवार निकाल उस स्त्रीकी हत्या कर डाली । स्त्री तो मरकर यमलोक को गयी और ब्राह्मणको स्त्रीहत्याका पाप लगा । स्त्रीने नरकों की यातना भोगकर एक राजाके यहाँ कुतियाका जन्म लिया । ब्राह्मणने स्त्रीहत्याके पापसे खरगोशका जन्म लिया । एक दिन कुतिया राजाके साथ बन में शिकारको गयी । वहाँ खरगोश दिखाई पड़ा । पूर्वजन्मका वैर स्मरणकर कुतियाने खरगोशका पीछा किया । खरगोश भी जी छोड़कर भागा, पर कुतियाने उसे पकड़ लिया । कुछ आदमियोंके शोरगुलसे खरगोश उसके मुँहसे छुटगया और भागा । भागते भागते एक मुनिके आश्रममें पहुँचा

और वहाँ पहुँचते ही मर गया। कुतिया भी उसका पीछा करती आश्रममें पहुँची और खरगोशके पास ही गिरकर मर गई। ये दोनों उस स्थान पर मरे जहाँ मुनिके पैर धोनेका जल पड़ा था। उनके मरते ही आकाशसे एक विमान उतरा और उन दोनोंको स्वर्गलोक को ले गया।

राजाने यह सब देखकर मुनिसे पूछा, “भगवन् ! किस पुण्यसे ये दोनों स्वर्गको गये ?”

मुनिने कहा, “मैं गीताके चौदहवें अध्यायका नित्य पाठ करता हूँ। जहाँ ये दोनों गिरकर मरे हैं, वहाँ मेरे पैरोंका धोवन जल पड़ा था। उसीको स्पर्शकर ये दोनों मरकर स्वर्गलोक को प्राप्त हुए हैं।”

राजा यह सुनकर उस दिनसे चौदहवें अध्याय का पाठ करने लगा। अन्तको वह भी प्राण त्यागकर वैकुण्ठलोक को प्राप्त हुआ।

हरिः ॐ तत्सत्

[गुणत्रयविभागयोग नामका चौदहवाँ अध्याय]

श्री भगवान् बोले—

ज्ञानोंमें उत्तम परम ज्ञानको मैं फिर कहता हूँ, जिसको जानकर सब मुनि इस संसार से छूटकर परम सिद्धि को प्राप्त हो चुके हैं ॥ १ ॥ इस ज्ञानका आश्रय लेकर मेरी समताको प्राप्त हुए पुरुष सृष्टिकालमें उत्पन्न नहीं होते और प्रलय-कालमें व्यथित भी नहीं होते ॥ २ ॥ हे भारत अर्जुन ! मेरे सम्पूर्ण जगतका कारणभूत जो 'महद्ब्रह्म' अर्थात् मेरी प्रकृति है, उसमें मैं गर्भको स्थापन करता हूँ, उस संयोग से समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है ॥ ३ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन !

सब देव, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, मनुष्य, पशु, मृग, पक्षी, कीट और सर्प आदि योनियोंमें जो मूर्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उन सबकी योनि यानी कारण 'महद्ब्रह्म' अर्थात् प्रकृति है। और मैं बीज प्रदान करनेवाला पिता हूँ ॥ ४ ॥ हे महाबाहो अर्जुन ! प्रकृति से उत्पन्न सत्व, रज और तम अविनाशी जीवात्मा को देहमें स्थित होने पर बाँधते हैं ॥ ५ ॥ उनमें सत्वगुण निर्मल होनेके कारण प्रकाशक और रोगरहित है। हे निष्पाप अर्जुन ! यह सत्वगुण सुखकी आसक्तिसे और ज्ञानकी आसक्तिसे बाँधता है अर्थात् सुख और ज्ञान में पुरुषकी आसक्ति उत्पन्न कर देता है ॥ ६ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! रजोगुणको राग अर्थात् स्त्री-पुरुष की मिलनेच्छा का कारण-

रूप तथा तृष्णा और सङ्गकी उत्पत्तिका कारण जान। वह रजोगुण जीवात्माको कर्मके सङ्गसे बाँधता है ॥ ७ ॥ परन्तु, हे भारत अर्जुन ! तमोगुणको तू अज्ञानसे उत्पन्न होनेवाला और सब जीवोंको मोहित करनेवाला जान। वह असावधानी, आलस्य और निद्राके द्वारा इस जीवात्माको बाँधता है ॥ ८ ॥ हे भारत ! सत्वगुण सुखमें और रजोगुण कर्ममें लगाता है, परन्तु तमोगुण ज्ञानको ढककर प्रमादमें भी लगाता है ॥ ९ ॥ हे भारत ! सत्वगुण रज और तम को दबाकर होता अर्थात् बढ़ता है; रजोगुण सत्व और तम को दबाकर बढ़ता है; और तमोगुण सत्व और रज को दबाकर बढ़ता है ॥ १० ॥ जब इस शरीर के चक्षु आदि सब द्वारोंमें

ज्ञानरूपी प्रकाश उत्पन्न होता है, तब ऐसा समझो कि सत्त्व गुण बढ़ा है ॥ ११ ॥ हे भरतश्रेष्ठ ! रजोगुणके बढ़ने पर लोभ, प्रवृत्ति अर्थात् प्रयोजन न समझकर भी कर्मोंमें चपलता, कर्मों का आरम्भ, अशान्ति, विषयोंकी इच्छा, ये सब उत्पन्न होते हैं ॥ १२ ॥ हे कुरुनन्दन ! तमोगुणके बढ़ने पर अप्रकाश अर्थात् ज्ञान का उदय नहोना, अप्रवृत्ति अर्थात् निश्चेष्टपड़े रहना, प्रमाद अर्थात् असावधानी, और मोह ये सब बढ़ते हैं ॥ १३ ॥ जब जीवात्मा सत्त्वगुणके बढ़नेके समय मृत्युको प्राप्त होता है, तब वह आत्मज्ञानियोंके निर्मल लोकोंको प्राप्त होता है ॥ १४ ॥ रजोगुणके बढ़नेके समयमें मृत्युको प्राप्त होकर पुरुष फलके लिये कर्म करनेवालोंके कुलमें जन्म लेता है ।

और तमोगुणके बढ़नेके समयमें मरा हुआ मनुष्य मूढ़ योनियों अर्थात् कुत्ता, सूअर आदिमें जन्म लेता है ॥ १५ ॥ सात्विक कर्मका फल सत्वगुणी और निर्मल होता है, रजोगुणका फल दुख और तमोगुणका फल अज्ञान होता है, ऐसा कहा गया है ॥ १६ ॥ सत्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, रजोगुणसे लोभ, ऐसे ही तमोगुणसे प्रमाद, मोह और अज्ञान उत्पन्न होते हैं, ॥ १७ ॥ सत्वगुण में स्थित ऊपर वैकुण्ठको जाते हैं, रजोगुणी बीच स्वर्गमें ठहर जाते हैं, और निकृष्ट गुणकी वृत्तियोंमें स्थित तमोगुणी पुरुष नीचे तिर्यग योनियोंको जाता है ॥ १८ ॥ जब दृष्टा अर्थात् एकीभावसे स्थित हुआ साक्षी पुरुष गुणोंसे भिन्न

दूसरेको कर्ता नहीं देखता अर्थात् गुण ही कर्ता है और आत्माको और गुणोंसे परेको अकर्ता समझता है, तब वह मेरे भाव को प्राप्त होता है ॥ १९ ॥ यह जीवात्मा, शरीर प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणोंको लाँघकर, जन्म, मृत्यु, जराके दुःखोंसे मुक्त होकर अमृतरूप आत्माका अनुभव करता है यही मेरा भाव है ॥ २० ॥

अर्जुन बोले—

हे प्रभो ! इन सत्वादि तीन गुणोंसे अतीत हुआ पुरुष किन-किन चिह्नोंसे युक्त होता है, कैसे आचरणवाला होता है, और वह कैसे इन तीन गुणोंको लाँघता है ॥ २१ ॥

हे अर्जुन ! जो पुरुष प्रकाश, प्रवृत्ति और मोहके प्रवृत्त होने पर उनसे द्वेष नहीं करता और निवृत्त होने पर उनकी आकांक्षा नहीं करता है ॥२२॥ उदासीनके सदृश स्थित हुआ जो गुणोंसे विचलित नहीं किया जा सकता; “गुण ही अपने प्रकाश आदि कार्यों में वर्त रहे हैं” ऐसा समझकर जो स्थिर रहता है, चलायमान नहीं होता है ॥२३॥ जो दुख-सुखमें समान चित्तवाला; जो स्वरूपमें स्थित है, जिसे मिट्टी, पत्थर, लोहा समान हैं, प्रिय-अप्रिय बराबर हैं; जो धीर है, जिसे अपनी निन्दा-स्तुति तुल्य है ॥ २४ ॥ जो मान-अपमानमें तुल्य है मित्र और शत्रुके पक्षमें तुल्य है; जो सब आरम्भों का त्यागी

है; वह पुरुष “गुणातीत” कहा जाता है ॥२५॥ जो व्यभिचार-रहित ऐकान्तिक भक्तियोगसे मेरी सेवा करता है, वह इन गुणोंको लाँघकर ब्रह्मभावको प्राप्त होनेके योग्य बन जाता है ॥ २६ ॥ क्योंकि, अमृत, अविनाशी ब्रह्मकी, शाश्वत धर्म अर्थात् ऐश्वर्यकी, और ऐकान्तिकसुखकी प्रतिष्ठा मैं हूँ ॥२७॥

गुणत्रयविभागयोग नाम चौदहवाँ अध्याय समाप्त



राज
स्वयं
मिल
उसे
अत्य

घोड़े
थक
की
गीत

पन्द्रहवें अध्यायका माहात्म्य

गौड़ देशमें नरसिंह नामका एक राजा था। उसके एक दुष्ट मन्त्रीने राजा तथा राजकुमारको मार डालनेका विचार किया। दैवयोगसे वह स्वयं बीमार पड़कर मर गया। पापबुद्धिके कारण उसे घोड़ेका जन्म मिला। उस घोड़े के अच्छे लक्षण देखकर एक वैश्यने उसे खरीद लिया। उसे लेकर वह राजा नरसिंहके यहाँ गया और निवेदन किया, “यह घोड़ा अत्यन्त सुलक्षण होनेके कारण मैंने आपके लिये बहुत धन देकर खरीदा है।”

राजाने बहुत सा धन देकर उसे खरीद लिया। एक दिन राजा उसी घोड़े पर सवार होकर शिकारको गया। एक हिरनके पीछे दौड़ते-दौड़ते थककर हिरनके ओभल हो जाने पर, राजा घोड़ेसे उतर पड़ा और पानी की खोजमें इधर उधर घूमने लगा। उसी समय राजाको एक शिला पर गीताके पन्द्रहवें अध्यायका आधा श्लोक लिखा हुआ दिखाई पड़ा।

वह उस श्लोकको पढ़ने लगा । उसका पाठ सुनते ही घोड़ा गिर पड़ा और उसी दम मर गया । राजाको घोड़ेकी मौत देखकर बड़ा आश्चर्य हुआ ।

उस वनमें एक तपस्वी रहता था । राजा उसके पास गया और घोड़ेके मरनेका कारण पूछा । तपस्वीने कहा, “यह घोड़ा आपका पूर्वजन्ममें मन्त्री था । इसने आपको मारकर राज्य लेनेका विचार किया था । पर यह स्वयं मर गया । उस पापी विचार से इसे घोड़ेका जन्म मिला । आज आपके मुखसे गीताके पन्द्रहवें अध्यायका आधा श्लोक सुनकर सब पापोंसे छूटकर स्वर्गलोक को चला गया है ।”

गीताका यह प्रभाव सुनकर राजा घर पर लौटकर राज्य अपने पुत्रको देकर गीताके पन्द्रहवें अध्यायका पाठ करने लगा । शरीर त्यागने पर उसे भी वैकुण्ठलोक प्राप्त हुआ ।

हरिः ॐ तत्सत्

[पुरुषोत्तमप्राप्तियोग नाम पन्द्रहवाँ अध्याय]

श्री भगवान् बोले—

ऊपर जड़वाले और नीचे शाखाओंवाले अश्वत्थ संसार-
पी पीपलके वृक्षको अविनाशी कहते हैं। वेद जिसके पत्ते
उसको जो जानता है, वह वेद जाननेवाला है। “सातों
लोकों के ऊपर रहनेवाले ब्रह्माजी इसके आदि हैं, इसलिये
यह ऊपर जड़वाला है। पृथ्वीलोक में बसनेवाले मनुष्य,
शु, पक्षी, कृमि, कीट, पतङ्ग और स्थावर तक फैला होने-
का कारण यह नीचे शाखावाला है। श्रुतियोंसे प्रतिपादित
गम्य कर्मोंसे यह संसार-वृक्ष बढ़ता है, इसलिये वेद ही इस-

के पत्ते हैं, क्योंकि पत्तोंसे ही वृक्ष बढ़ता है" ॥१॥ नीचे और ऊपर इस संसारवृक्ष की शाखाएँ फैली हुई हैं, जो सत्त्वादि गुणोंसे बढ़ाई हुई हैं, शब्दादिविषय जिनकी कोपलें हैं। तथा नीचे मनुष्यलोकमें भी कर्मरूप बन्धनवाली इसकी जड़ें फैली हुई हैं ॥ २ ॥ मनुष्य आदि शाखावाले संसारवृक्षकी और भी उन-उन जीवोंके कर्मोंसे बनी हुई नीचेकी शाखाएँ बार-बार मनुष्य और पशु आदि शरीरों के रूपमें फैलती जाती हैं। तथा ऊपरकी और गन्धर्व, यक्ष और देव आदिके रूपमें फैल जाती हैं अर्थात् ब्रह्मलोक जिसका मूल है, मनुष्य जिसके शाखाग्र हैं, ऐसे इस वृक्षकी कर्मरूप बाँधनेवाली जड़ें नीचे मनुष्यलोकमें भी व्याप्त हो रही हैं।

अभिप्राय यह है कि जीवको बार-बार बाँधनेवाली कर्मरूप जड़ें मनुष्य लोकमें ही होती हैं, क्योंकि मनुष्य की अवस्था में किये हुए कर्मोंके द्वारा ही जीव नीचे मनुष्य-पशु आदि और ऊपर देव आदि बनता है ॥ २ ॥ इस लोकमें इस वृक्षका न तो वैसा रूप पाया जाता है, न अन्त, न आदि और न पूर्ण प्रतिष्ठा ही अर्थात् इसका यथार्थ रूप संसारी मनुष्यों के देखने में नहीं आता । इस अच्छी प्रकार मजबूती से जमी हुई जड़ वाले वृक्षको विषयोंमें अनासक्ति रूपी शस्त्रसे काट कर ॥ ३ ॥ “उसी आदि पुरुष की मैं शरण ग्रहण करता हूँ” इस भावसे उसी की शरण ग्रहण करनी चाहिये । जिस परमेश्वर से यह पुरातन गुणमय भोगासक्तिकी प्रवृत्ति विस्तार

को प्राप्त हुई है ऐसा दृढ़ निश्चय करके उस पद को छूटना चाहिये जिसमें पहुँचे हुए वापस नहीं लौटते ॥४॥ मान-मोहसे रहित, सङ्गदोषको जीत लेनेवाले, सदा अध्यात्ममें स्थित, निवृत्त कामनाओंवाले, सुख दुःख नामके द्वन्द्वोंसे मुक्त हुए ज्ञानीपुरुष उस अविनाशी पदको प्राप्त होते हैं ॥५॥ उस आत्म ज्योतिको न सूर्य प्रकाशित करता है, न चन्द्रमा और न अग्नि। जिसको प्राप्त होकर फिर नहीं लौटते, वह मेरा परम धाम है ॥६॥ मेरा ही जीव रूप सनातन अंश, जीव लोकमें प्रकृतिमें स्थित मन सहित छः इन्द्रियोंको स्वीचता है ॥७॥ इन्द्रियोंका ईश्वर यह जीव जिस शरीर को छोड़ता है, उससे जिस शरीरको प्राप्त करता है, वहाँ इन इन्द्रियों

को वैसे ही पकड़कर ले जाता है, जैसे वायु गन्धके स्थानों से गन्धोंको ले जाता है ॥ ८ ॥ कान, आँख, त्वचा, जीभ, और नासिका तथा मनको अधिष्ठान अर्थात् अपने अपने विषयों के अनुकूल बनाकर यह जीवात्मा उन शब्दादि विषयों का सेवन करता है ॥ ९ ॥ गुणोंसे युक्त जीवात्माको शरीरसे निकलते हुए, शरीरमें स्थित, अथवा विषयोंको भोगते समय मूढ़ पुरुष नहीं देखते हैं, ज्ञान-नेत्रवाले देखते हैं ॥ १० ॥ यत्न करने वाले योगीजन इस आत्माको शरीर में रहते हुए भी शरीरसे पृथक् अपने स्वरूपमें स्थित देखते हैं, परन्तु अशुद्ध चित्त वाले अविवेकी पुरुष यत्न करते हुए भी इसको नहीं देख पाते ॥ ११ ॥ जो सूर्यगत तेज समस्त जगतको प्रकाशित

करता है, और जो चन्द्रमामें है और जो अग्निमें है, उस तेजको तू मेरा ही जान ॥ १२ ॥ मैं पृथ्वीमें प्रविष्ट होकर अपने ओज सामर्थ्यसे समस्त प्राणियोंको धारण करता हूँ । और रसमय चन्द्रमा होकर सब औषधियोंको पुष्ट करता हूँ ॥ १३ ॥ मैं प्राणियोंके शरीरमें स्थित जठराग्नि होकर, प्राण, अपान के साथ युक्त होकर चारप्रकारके भोजनको पचाता हूँ ॥ १४ ॥ मैं सबके हृदयमें प्रविष्ट हूँ । मुझसे ही स्मृति, ज्ञान, और ज्ञानकी निवृत्ति होती है । सब वेदोंसे मैं ही जानने योग्य हूँ और मैं ही वेदान्तका वेदोक्त फलका कर्त्ता अर्थात् प्रदाता और वेदका जाननेवाला हूँ ॥ १५ ॥ लोकमें ये दो पुरुष हैं—क्षर और अक्षर । क्षर तो समस्त भूत प्राणी हैं और अक्षर कूटस्थ

आत्मज्ञानी कहलाता है ॥ १६ ॥ परन्तु उत्तम पुरुष दूसरा है, जो परमात्मा कहलाता है। और जो अविनाशी ईश्वर तीनों लोकोंमें प्रवेश करके उन्हें धारण करता है ॥ १७ ॥ जिस लिये मैं क्षर पुरुषसे अतीत हूँ और अक्षर मुक्तात्मासे भी उत्तम हूँ। इसलिये लोक और वेदमें 'पुरुषोत्तम' नामसे प्रसिद्ध हूँ ॥ १८ ॥ हे भारत ! जो मूढ़ता रहित पुरुष इस प्रकार मुझको पुरुषोत्तम जानता है, वह सब कुछ जानता है और मुझको सारे भजन-प्रकारोंसे भजता है ॥ १९ ॥ हे निष्पाप ! इस प्रकार यह अत्यन्त गोपनीय शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया है। इसे जानकर पुरुष बुद्धिमान् और कृतकृत्य हो जाता है ॥ २० ॥

पुरुषोत्तमयोग नाम पन्द्रहवाँ अध्याय समाप्त

सोलहवें अध्याय का माहात्म्य

गुजरात देशमें सौराष्ट्रिक नामका एक नगर था । वहाँ खड्गबाहु नामका राजा राज्य करता था । एक दिन रात्रिके समय राजाका एक मतवाला हाथी बन्धन तोड़कर भागा । उसके पकड़नेके अनेक उपाय किये गये पर सब असफल हुए । नगरके लोग भयभीत हो गये । सभी अपने बाल बच्चों की रक्षा करने लगे ।

उसी समय एक बाह्यण तालाबसे स्नान करके, गीताके श्लोकों का पाठ करता हुआ उसी मार्गसे आ रहा था । लोगों ने उसे उस मार्गको छोड़नेको बहुत कुछ कहा पर वह न माना, और पाठ करते हुये उस स्थान पर पहुँचा जहाँ हाथी आ रहा था । हाथीने उसे देखते ही मार्ग छोड़ दिया और उसको सकुशल जाने दिया । इस पर लोगोंको बड़ा

आश्चर्य हुआ। राजा विस्मित होकर ब्राह्मणसे पूछने लगा, “ब्राह्मण देव ! आपकी तो अद्भुत शक्ति है। आप इस यमराजके मुखसे कैसे निकल आये ? आप किस देवताकी पूजा करते हैं ? किस मन्त्रका जप करते हैं ? मुझे भी बताइये”

ब्राह्मणने कहा, “महाराज मैं गीताके, सोलहवें अध्यायका नित्य पाठ करता हूँ। उसीसे मुझे सब सिद्धियाँ प्राप्त हैं ?” राजा को यह सुनकर बड़ा आश्चर्य हुआ। ब्राह्मणको आदर पूर्वक महल ले गये और पूजा सत्कार कर एक लाख अशर्फियाँ उसे भेंट कीं। राजा उस दिन से स्वयं सोलहवें अध्यायका पाठ करने लगा।

एक दिन राजा अपने मन्त्रियोंके साथ शिकार को गया। अचानक वहाँ वही मतवाला हाथी उसे देख पड़ा। मन्त्रियोंको बड़ा भय हुआ। वे राजासे वहाँसे भागनेका आग्रह करने लगे। पर राजा निर्भय होकर

वही गीताका पाठ करते हुये हाथी के सामने से चला गया। हाथी कुछ न बोला।

राजा को अब परम विश्वास हो गया। घरको लौट सब राजपाट राज-कुमारको दे, संसार से विरक्त होकर बनको चल दिया। वहाँ नित्य गीता के सोलहवें अध्यायका पाठ करने लगा। शरीर छूटने पर मोक्षको प्राप्त हुआ।

हरिः ॐ तत्सत्

[दैवासुरसंपद्विभागयोग नाम सोलहवाँ अध्याय]

श्रीभगवान् बोले—

अभय, अंतःकरण का अत्यन्त शुद्ध होना अर्थात् रजोगुण और तमोगुणके स्पर्शसे रहित हो जाना, ज्ञानयोगमें अर्थात् प्रकृति संसर्गसे रहित आत्म स्वरूपके विवेचनमें दृढ़ स्थिति, सात्विक दान, मनका विषयोंकी ओर जानेसे दमन अर्थात् रोक लेना, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, और आर्जव अर्थात् दूसरों के प्रति व्यवहार करते समय मन, वाणी, और शरीरके कर्मों की और वृत्तियों की एक निष्ठता ॥१॥ अहिंसा, सत्य, क्रोध का अभाव, त्याग, शान्ति, दूसरे को हानि पहुँचानेवाले वचन

न बोलना, सब भूत प्राणियोंमें हेतु रहित दया, विषयों में
 स्पृहा का न होना, कोमलता, न करने योग्य काम करनेमें
 लज्जा, आसक्ति पैदा करनेवाले विषयकी समीपतामें भी
 चपलता न होना ॥ २ ॥ तेज, क्षमा विपत्तिमें धैर्य, शौच,
 दूसरोंके साथ विरोध न करना, गर्व न करना, ये गुण, हे
 अर्जुन! दैवी सम्पदाके सम्मुख उत्पन्न हुए पुरुषमें होते हैं ॥ ३ ॥
 हे पार्थ अर्जुन ! दम्भ अर्थात् धार्मिकता की प्रसिद्धिके लिये
 धर्मानुष्ठान करना, दर्प अर्थात् कर्तव्य और अकर्तव्यके
 विवेक को नष्ट करनेवाले तथा विषयोंके अनुभवसे होनेवाला
 हर्ष, अतिमान अर्थात् जो अपने कुटुम्ब और विद्यादिके
 अनुरूप न हो ऐसा अभिमान, क्रोध, पारुष्य अर्थात् साधुपुरुषों

क
सं
लि
पा
हु
अ
ज
(ल
सा
सत
ब्रह्म

को उद्वेग करानेवाला स्वभाव, और अज्ञान, ये सब दुर्गुण आसुरी
संपदामें उत्पन्न हुए पुरुषमें होते हैं ॥ ४ ॥ दैवी सम्पदा मोक्षके
लिये और आसुरी सम्पदा बन्धनके लिये मानी जाती है। हे
पाण्डुकुमार अर्जुन! तू शोकमत कर; तू दैवी सम्पदामें उत्पन्न
हुआ है ॥ ५ ॥ इस संसारमें प्राणियोंकी सृष्टि दो प्रकारकी है—दैवी
और आसुरी। हे पार्थ अर्जुन! दैवी सृष्टि तो विस्तार पूर्वक कही
जा चुकी है, अब आसुरी मुझसे सुन ॥ ६ ॥ आसुर लोग प्रवृत्ति
(लौकिक उन्नति) का साधन मार्ग और निवृत्ति (मोक्ष) के
साधन मार्गको नहीं जानते। उनमें न शौच, न आचार, और न
सत्य ही होता है ॥ ७ ॥ वे कहते हैं कि जगत असत्य है, अर्थात्
ब्रह्मरूप नहीं है, ब्रह्ममें प्रतिष्ठित नहीं है, ईश्वर रहित है स्त्री-

पुरुषके संयोगसे उत्पन्न हुआ है, इसका कामके सिवा दूसरा हेतु क्या हो सकता है ? ॥ ८ ॥ इस प्रकारके दृष्टिकोण का अवलम्बन करनेके कारण जिनका आत्मा नष्ट हो गया है अर्थात् जो शरीरके अतिरिक्त आत्मा की स्थिति ही नहीं मानते हैं, जो थोड़ी बुद्धिवाले हैं, तथा उग्र कर्म हिंसा करने-वाले हैं, ऐसे प्राणी जगतका नाश करनेके लिये उत्पन्न हुआ करते हैं ॥ ९ ॥ दुष्प्राप्य विषयों की कामनाका आश्रय लेकर उनको प्राप्त करने की इच्छासे, मोहके कारण अज्ञान से अन्याय युक्त बुरी वस्तुओंका संग्रह करके, अशुद्ध आचरण वाले, दम्भ, मान और मदसे युक्त पुरुष बलपूर्वक वर्तते हैं ॥ १० ॥ आज या कल मरनेवाले हैं, तो भी सीमा रहित

और कहीं प्रलयकाल तक पूर्ण होनेवाली, चिन्ता का आश्रय लेनेवाले, तथा भोगों का उपभोग ही परम पुरुषार्थ है, ऐसा निश्चय रखनेवाले पुरुष ॥११॥ सैकड़ों आशाओंसे बंधे हुए, और काम क्रोधमें निष्ठा रखनेवाले पुरुष भोगों को भोगनेके लिये अन्याय पूर्वक धन जमा करने की चेष्टा करते हैं ॥१२॥ यह मुझे आज मिल गया इसमें प्रारब्ध कारण नहीं है और इस मनोरथ को मैं कल स्वयं प्राप्त करूँगा, न कि प्रारब्ध की सहायतासे। यह धन तो मेरा है मेरी सामर्थ्यसे प्राप्त हुआ है, फिर भी इतना धन मुझे अपनी सामर्थ्यसे ही मिलेगा ॥१३॥ अमुक शत्रु मुझसे मार डाला गया है, और दूसरों को भी मैं मार डालूँगा। मैं ईश्वर हूँ, मैं योगी हूँ, मैं भोगी

हूँ, मैं बलवान् और सुखी हूँ ॥ १४॥ मैं अपनी शक्ति से ही धनवान् हूँ, उच्च कुलमें उत्पन्न हूँ, मेरे समान दूसरा कौन है? यज्ञ करूँगा, दान करूँगा, और आनन्द लूटूँगा। इस प्रकार वे अज्ञान से मोहित हुए समझते हैं ॥ १५ ॥ अनेक सङ्कल्पों से जिनका चित्त भ्रमित हो रहा है, तथा जो इस प्रकारके मोह जाल में फँसे हुए हैं। ऐसे मनुष्य भोगोंके उपभोगमें अत्यन्त आसक्त रहते हुए बीचमें ही मरकर घोर नरकमें गिरते हैं ॥ १६ ॥ अपने-आप महान् बने हुए अर्थात् स्वयं ही अपने गुणगान करते हैं, कुछ भी न करनेवाले, धन मानके मदसे युक्त मनुष्य नाम प्राप्त कर लेना ही जिनका प्रयोजन है, ऐसे यज्ञों का अनुष्ठान हम यज्ञ करनेवाले हैं। ऐसे दम्भ से

और शास्त्राज्ञाके विपरीत किया करते हैं ॥१७॥ मैं ही सब कुछ करता हूँ ऐसे अहङ्कार का, सब कुछ करनेमें मेरा बल काफी है इस प्रकार बल का, मेरे समान कोई भी नहीं है ऐसे दर्प का, मेरी इच्छा मात्र से मुझे सब कुछ मिल जायगा इस प्रकार काम का और मैं अपने अनिष्ट करनेवालों को मार डालूँगा इस प्रकार क्रोध का आश्रय लेनेवाले होते हैं। वे अपने शरीर में एवं दूसरोंके शरीरमें स्थित सबके प्रेरक मुझ पुरुषोत्तम की निन्दा करनेवाले तथा मेरे प्रति द्वेष रखनेवाले होते हैं ॥ १८ ॥ उन मुझसे द्वेष रखनेवाले क्रूर, अशुभ नराधर्मों को मैं संसारमें निरन्तर आसुरी योनियोंमें ही डालता हूँ ॥ १९ ॥ हे कौन्तेय ! आसुरी योनिको प्राप्त होकर वे मूढ़

लोग मुझको न पाकर जन्म-जन्म में और भी नीच गति को प्राप्त होते हैं ॥ २० ॥ काम, क्रोध, और लोभ—ये नरक के तीन द्वार आत्माके पतन करनेवाले हैं, इसलिये इन तीनों का त्याग कर देना चाहिये ॥ २१ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! इन नरकके तीनों द्वारों काम, क्रोध, लोभ से छूटा हुआ पुरुष आत्मकल्याण का आचरण करता है, इसलिये परम गति को प्राप्त होता है ॥ २२ ॥ जो शास्त्रविधिका त्याग करके अपनी इच्छानुसार वर्तता है, वह न किसी भी पारलौकिक सिद्धि को प्राप्त होता है, न इस लोक के सुखको, न परम गति को ॥ २३ ॥ इसलिये कर्तव्य और अकर्तव्य की व्यवस्था में अर्थात् क्या करना चाहिये, क्या नहीं करना चाहिये इसके

नैर्णय करनेमें तेरे लिये शास्त्र ही प्रमाण है। उस शास्त्र
वेधान से बतलाये हुए तत्त्वको और कर्मोंको यथार्थ जान-
कर तुझे वही करना चाहिये ॥ २४ ॥

दैवासुरसंपद्विभागयोग नाम सोलहवाँ अध्याय समाप्त



सत्रहवें अध्याय का माहात्म्य

सोलहवें अध्यायके माहात्म्यमें निर्दिष्ट राजा खड्गबाहुके मरने पर उनका पुत्र राजा हुआ। उसके एक दुःशासन नामके नौकरने उसके पागल हाथीको किसी प्रकार जंजीरमें बाँध लिया। एक दिन अभिमानमें आकर उस पागल हाथी पर बैठने का उसने दुस्साहस किया। लोगोंने उसे बहुत समझाया पर उसने किसी का कहना न मान उसकी गर्दन पर सवार हो गया। हाथीने क्रोधमें आकर सूँड़से उसे जमीन पर गिराकर पैरोंसे कुचल डाला।

दुःशासन का दूसरा जन्म सिंहलद्वीपमें हाथी का ही हुआ। सिंहलद्वीप के राजासे खड्गबाहु की मित्रता थी। अतः उसने उस हाथी को खड्गबाहुके पुत्रको दे दिया। हाथीको अपने पूर्व जन्मका स्मरण था। अपने परिवारवालों

को देखकर वह दुखी रहता था। कुछ दिन बाद वह बीमार हो गया। किसी प्रकार जब अच्छा न हुआ, तो एक दिन राजा उसको देखने स्वयं आया।

हाथी बोला, “महाराज, मेरी बीमारी औषधि साध्य नहीं है। आप किसी गीतापाठी ब्राह्मणको बुलाकर मुझे सत्रहवें अध्यायका पाठ सुनवाइये। तभी मेरा—कल्याण होगा।”

राजाने वैसा ही किया। ब्राह्मणके मुँहसे गीताके सत्रहवें अध्यायका पाठ सुनकर हाथीका शरीर छूट गया। वह विमान पर बैठकर दिव्य लोकको प्राप्त हुआ।

हरिः ॐ तत्सत्

[श्रद्धात्रय विभागयोग नाम सत्रहवाँ अध्याय]

अर्जुन बोले—

हे कृष्ण ! जो शास्त्र विधिको छोड़कर श्रद्धासे युक्त हुए यज्ञादि कर्म करते हैं, उनकी क्या निष्ठा है ? क्या सत्वगुण है, या रजोगुण है, या तमोगुण है ? ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—

प्राणियोंकी वह स्वभावसे उत्पन्न हुई श्रद्धा सात्विकी, राजसी और तामसी-ऐसी तीन प्रकारकी होती है, उसको तू सुन ॥२॥ हे भारत ! सभी पुरुषोंकी श्रद्धा अन्तःकरण के अनुरूप हुआ करती है यह पुरुष श्रद्धामय है। जो पुरुष जैसी

श्रद्धासे युक्त होता है, वह वैसा ही होता है अर्थात् श्रद्धा के सदृश फलका भागी होता है ॥ ३ ॥ सात्विक पुरुष देवताओं को पूजते हैं, राजस पुरुष यज्ञ और राज्ञसोंको और तामस लोग प्रेतों और भूतोंके समुदायों को पूजते हैं ॥४॥ जो लोग शास्त्र विरुद्ध घोर तप करते हैं, वे दम्भ, अहङ्कार से युक्त और काम, आसक्ति, तथा बल से युक्त, ॥ ५ ॥ शरीरके भीतर स्थित पृथ्वी आदि भूतसमूहका शोषण करते हुए, तथा शरीर में स्थित मेरे अंशरूप जीवको भी कष्ट पहुँचाते हैं। अतः उन को तू आसुरी निश्चयवाले जान ॥ ६ ॥ आहार भी सबको तीन प्रकार का प्रिय होता है। ऐसे ही यज्ञ, तप और दान भी तीन प्रकारके प्रिय होते हैं। उनका यह भेद तू सुन ॥७॥

आयु, ज्ञान, बल, आरोग्य, सुख, और प्रीति के बढ़ाने वाले, रसदार, चिकने, स्थायी, और जो देखने में मनको प्रसन्न करने वाले हों-ऐसे सात्विक आहार सात्विक पुरुषोंको प्रिय होते हैं ॥ ८ ॥ कड़वे खट्टे, नमकीन, बहुत गरम, तीखे, रूखे, और जलन पैदा करने वाले, तथा जो दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करनेवाले हैं, ऐसे आहार राजस पुरुषको प्रिय होते हैं ॥ ९ ॥ जो बहुत देरका रक्खा हुआ, रसहीन, दुर्गन्धयुक्त, बासी, जूठा, यज्ञ के अयोग्य आहार है, वह तामस मनुष्योंको प्रिय होता है ॥ १० ॥ जो यज्ञ फल कामनासे रहित पुरुषोंके द्वारा, शास्त्र-विधिके अनुसार, इस भावना से कि “यज्ञ करना कर्तव्य है”, मनका समाधान करके किया जाता है, वह सात्विक होता

है ॥ ११ ॥ और हे भरतश्रेष्ठ अर्जुन ! जो यज्ञ फलको लक्ष्य बनाकर और दम्भके लिये भी किया जाता है, उसको तू राजस जान ॥ १२ ॥ जो यज्ञ विधिहीन है, शास्त्रविहित अन्न से रहित है, जो मन्त्रहीन है, दक्षिणा रहित है, और श्रद्धा से भी रहित है, ऐसे यज्ञको तामस कहते हैं ॥ १३ ॥ देवता, ब्राह्मण, गुरु और ज्ञानियों का पूजन, शौच तीर्थ स्नानादि, आर्जव अर्थात् मनके भावके अनुसार ही वाणी और शरीरकी क्रिया का होना, ब्रह्मचर्य, अहिंसा—यह शरीर सम्बन्धी तप कहलाता है ॥ १४ ॥ दूसरों को उद्वेग न पहुँचाने वाले, सच्चे, प्रिय, और हितकारक वचन, तथा स्वाध्याय का अभ्यास—यह वाचिक तप कहलाता है ॥ १५ ॥ मनकी प्रसन्नता, अर्थात्

क्रोधादि विकारोंसे रहित होना, सौम्यता अर्थात् दूसरों की उन्नाति के लिये मनका झुकाव, मौन, मनका निग्रह, भाव-संशुद्धिः अर्थात् आत्मासे अतिरिक्त अन्य किसी विषयके चिन्तनसे रहित होना—यह मानसिक तप है ॥१६॥ फल की इच्छासे रहित, “यह तप परम पुरुष की आराधना ही है” ऐसी विचारधारा से युक्त पुरुषों के द्वारा, परम श्रद्धा के साथ जो तीनप्रकारसे शरीर, वाणी और मन द्वारा तपा जाता है, उसे सात्विक कहते हैं ॥ १७ ॥ जो तप, सत्कार, मान, और पूजा के लिये तथा दम्भके साथ किया जाता है, वह चञ्चल और अस्थिर तप यहाँ राजस कहा गया है ॥ १८ ॥ जो तप मूर्खों के द्वारा किये हुए आग्राहसे, अपनी आत्माको पीड़ा पहुँचा-

कर तथा दूसरों का बुरा करने के लिये किया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥ १६ ॥ 'देना कर्तव्य है' इस बुद्धि से श्रेष्ठ देश, काल, और पात्रमें, तथा जिसने कभी उपकार न किया हो ऐसे मनुष्यको दिया जाता है, वह दान सात्विक कहा गया है ॥ २० ॥ जो दान उपकारका बदला चुकानेके अभिप्रायसे तथा फलकी कामना पूर्वक दिया जाता है, तथा जो अशुभ द्रव्यसे युक्त होता है, वह राजस कहा गया है ॥ २१ ॥ जो दान अयोग्य देश-कालमें बिना सत्कार और अपमान पूर्वक कुपात्र को दिया जाता है, वह तामस कहा गया है ॥ २२ ॥ "ॐ तत्सत्" यह तीन प्रकार का निर्देश ब्रह्म का बताया गया है। उन तीन शब्दोंसे सम्बन्धित ब्राह्मण,

वेद और यज्ञ पूर्वकालमें मुझसे ही रचे गये हैं ॥ २३ ॥ इसलिये ब्रह्मवादियों की शास्त्रोक्त यज्ञ, दान और तप रूपी सारी क्रियाएँ सदा ॐ इस शब्द का उच्चारण करके ही आरम्भ हुआ करती हैं ॥ २४ ॥ मोक्ष चाहनेवाले पुरुषों के द्वारा फल की इच्छा न कर, विविध भाँतिकी यज्ञ, तप और दान की जो क्रियाएँ की जाती हैं, वे 'तत्' शब्द से निर्देश करने योग्य हैं ॥ २५ ॥ हे पार्थ अर्जुन ! सत्ता के भावमें और कल्याणमय भावमें सब वस्तुओं के साथ 'सत्' शब्द का प्रयोग किया जाता है, तथा शुभ कर्म के लिये भी 'सत्' शब्द प्रयोग किया जाता है ॥ २६ ॥ यज्ञ, तप, और दान में स्थिति 'सत्' नाम से कही जाती है। तथा उनके कल्याणार्थ किये जानेवाले यज्ञ, दान,

तप आदि कर्म भी सत् कहलाते हैं ॥ २७ ॥ हे पार्थ अर्जुन !
अश्रद्धासे किया हुआ हवन, दिया हुआ दान, तपा हुआ तप,
और जो कुछ भी किया होता है, वह 'असत्' ऐसा कहलाता
है। वह असत् कर्म न तो मरने पर, न इस लोक में ही फल
देता है ॥ २८ ॥

श्रद्धात्रय विभागयोगे नाम सत्रहवाँ अध्याय समाप्त

अठारहवें अध्यायका माहात्म्य

मेरु पर्वतके शिखर पर अमरावती नामकी पुरी है। इसका निर्माण विश्वकर्मा ने किया था। वहाँ करोड़ों देवता निवास करते हैं। पूर्वकालमें महाराज शतक्रतु सौ यज्ञ करनेवाले इन्द्रपद पर शोभित थे। एक दिन यह इन्द्रदेव सभामें बैठे थे। अकस्मात् भगवान् विष्णुके दूत एक हजार नेत्रवाले पुरुषको लेकर सभामें आये। उसके तेजसे शतक्रतुका तेज फीका पड़ गया। वह सिंहासनसे गिर पड़ा। इस आये हुये सहस्रनेत्रवाले पुरुषका अभिषेक हुआ। वह सिंहासन पर बैठा। देवताओंने उसका स्वागत किया। गन्धर्वोंने मंगल गीत गाये। इस प्रकार नये इन्द्रका राज्याभिषेक देख पुराने इन्द्र शतक्रतुको बड़ा आश्चर्य हुआ। वह चिन्तासे व्याकुल होकर भगवान् विष्णुके पास क्षीरसागरमें गये। हाथ जोड़कर स्तुति करके बोले, “हे लक्ष्मीपति! हमने आपका सौ यज्ञोंसे पूजन किया। उसके पुण्यसे हमको आपने इन्द्रपद

दिया। इस समय हम पदच्युत हो गये। एक नया इन्द्र हुआ है। उसने धर्म और यज्ञ कुछ भी नहीं किया। फिर कैसे उसे इन्द्रासन दिया गया ?”

भगवान् विष्णु पदच्युत इन्द्रके वचन सुनकर जाग पड़े और बोले, “शतक्रतु ! अनित्य फल देनेवाले यज्ञोंसे शाश्वत पद कैसे मिल सकता है ? तुमने अपने पुण्यों का फल भोग लिया। अब तुम्हारा पुण्य क्षीण हो गया, अतएव तुम पदच्युत हो गये। यह ब्राह्मण गीताके अठारहवें अध्यायके पाँच श्लोक जपा करता था, जिसके प्रभावसे इसको इन्द्रपद दिया गया।”

इस प्रकार भगवान् के वचन सुनकर शतक्रतु गोदावरीके किनारे गये। वहाँ एकवेदज्ञ ब्राह्मण गीताके अठारहवें अध्यायका पाठ करता था। उसके कृपापात्र हो यह भी अठारहवें अध्यायका पाठ करने लगे। उसी पुण्यके प्रभाव से इन्द्र आदि देवताओं के पदसे भी बढ़कर विष्णुपद वैकुण्ठको प्राप्त हुए।

हरिः ॐ तत्सत्

[मोक्ष-संन्यासयोग नाम का अठारहवाँ अध्याय]

अर्जुन बोले—

हे महाबाहो, इन्द्रियोंके नाथ, केशिनिषूदन श्रीकृष्ण ! मैं संन्यास और त्यागके यथार्थ स्वरूपको अलग-अलग जानना चाहता हूँ ॥ १ ॥

श्री भगवान् बोले—

कितने ही विद्वान् काम्य कर्मोंके स्वरूपतः त्यागको संन्यास' समझते हैं, और कितने विचार-कुशल पुरुष सब कर्मोंके फल त्याग को 'त्याग' कहते हैं ॥२॥ कितने ही बुद्धिमान् कपिलके मतानुयायी कहते हैं कि सब यज्ञादि कर्म,

दोषकी भाँति त्याज्य हैं । और दूसरे लोग ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान, तपरूप कर्म त्याज्य नहीं हैं ॥ ३ ॥ हे भरतकुलमें श्रेष्ठ, पुरुषसिंह, अर्जुन ! उस त्यागमें अब तू मेरा निश्चय सुन; क्योंकि त्याग तीन प्रकार का कहा गया है ॥ ४ ॥ यज्ञ, दान; और तपरूप कर्म त्यागने योग्य नहीं हैं, वे तो करने ही योग्य हैं । यज्ञ, दान, और तप बुद्धिमानोंको भी पवित्र करनेवाले हैं ॥ ५ ॥ इसलिये हे अर्जुन ! ये कर्म भी उपासना की भाँति आसक्ति और फलोंको छोड़कर करने योग्य हैं । यह मेरा निश्चय किया हुआ उत्तम मत है ॥ ६ ॥ शास्त्रविहित कर्म का संन्यास नहीं बन सकता, अतः उसका मोहसे त्याग करना तामस त्याग कहलाता है ॥ ७ ॥ यज्ञादि कर्म दुःस्वरूप हैं, ऐसा

जानकर जो कोई शरीरके क्लेशके भयसे कर्मका त्याग कर दे, तो वह राजस त्यागकरके त्यागके यथार्थ फलको जो ज्ञानकी उत्पत्ति है कभी नहीं पाता ॥८॥ हे अर्जुन ! जो शास्त्रविहित कर्म करने ही चाहिये, ऐसा समझकर आसक्ति और फलका त्याग करके किया जाता है वह त्याग सात्विक माना गया है ॥९॥ सत्वगुणसे युक्त, मेधावी अर्थात् यथार्थ तत्त्वको जानने-वाला संशयरहित, त्यागी पुरुष अनिष्ट फल देनेवाले अकुशल कर्मसे द्वेष नहीं करता और इष्ट फल देनेवाले कुशल कर्मसे प्रीति नहीं करता है ॥१०॥ क्योंकि शरीरधारी प्राणियों के लिये कर्मों का पूरी तौरसे त्याग संभव नहीं है। इसलिये जो कर्मफलका त्यागी है, वह यथार्थ त्यागी है, ऐसा कहा जाता

है ॥११॥ अनिष्टनरकादि, इष्टस्वर्गादि, और मिश्रित अनिष्टसे युक्त पुत्र, पशु, अन्नादिकी प्राप्तिरूप-तीन प्रकार का कर्मफल, त्याग न करनेवालों को पीछे से मिलता है। परन्तु संन्यासियोंको कभी नहीं मिलता ॥१२॥ भगवान् का अभिप्राय यह है-कर्त्तापनके अभिमान, ममता और फलाक त्याग ही शास्त्र-विहित संन्यास है और वही त्यागके नामसे कहा गया है। हे बड़ीभुजाओंवाले अर्जुन! सब कर्मों की सिद्धिके लिये, सांख्य सिद्धान्त में बतलाये हुए ये पाँच कारण तू मुझसे समझ ॥१३॥ १ अधिष्ठान अर्थात् शरीर जो जीवात्मा से अधिष्ठित है, २ कर्त्ता जीवात्मा, ३ पृथक्-पृथक् प्रकार का करण इन्द्रियाँ, ४ विभिन्न प्रकारकी पृथक्-पृथक् चेष्टाएँ अर्थात्

पाँच प्रकारका प्राणवायु और ५ पाँचवाँ दैव परमात्मा भी ॥१४॥ शरीर, वाणी, और मनसे होनेवाले जो भी शास्त्र-विहित अथवा निषिद्धकर्म मनुष्य करता है, उसके पाँच ही कारण होते हैं ॥१५॥ इस प्रकार वस्तुतः उन-उन कर्मों में परमात्मा की अनुभूति से जीवात्मा का कर्तापन होने पर भी, जो केवल जीवात्मा को ही कर्ता देखता है, वह दुष्ट बुद्धि, वस्तु के यथार्थ स्वरूप को समझने की बुद्धि से रहित होने के कारण, यथार्थ कर्ता को नहीं देख पाता ॥१६॥ जिसका 'मैं कर्ता हूँ' ऐसा भाव नहीं है, जिसकी बुद्धि लिप्त नहीं होती अर्थात् जिसकी ऐसी बुद्धि हो गई है कि 'इस कर्म में मेरा कर्तापन न रहने के कारण इसके फल से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है और यह कर्म भी मेरा

नहीं है' वह इन लोगों को मारकर भी न तो मारता है, और न बन्धन को ही प्राप्त होता है ॥ १७ ॥ कर्तव्यकर्मविषयक ज्ञान, कर्तव्य कर्म ही ज्ञेय, और उसको जाननेवाला परि-
 ज्ञाता—यह तीनों कर्म के प्रेरक हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग से कर्ममें प्रवृत्त होने की इच्छा उत्पन्न होती है। साधनभूत द्रव्यादि करण, यज्ञादि कर्म, और करनेवाला कर्ता, यह तीनों कर्म के संग्रह हैं अर्थात् इन तीनों के संयोग में कर्म बनता है ॥ १८ ॥ कर्तव्यकर्मविषयक ज्ञान, किये जानेवाला कर्म, और उसको करनेवाला कर्ता, ये सब गुणोंके कार्योंकी गणना करते समय, सत्वादि गुणोंके भेदसे तीन-तीन प्रकारके कहे गये हैं उनको भी तू यथार्थ रूपसे सुन ॥ १९ ॥ सब प्राणियोंमें

जिस ज्ञानके द्वारा योगी विभागोंसे युत सब प्राणियोंमें एकही प्रकारका, विभाग रहित, तथा नाश रहित भाव देखता है, उस ज्ञान को तू सात्विक जान ॥२०॥ परन्तु जो ज्ञान पृथक्-पृथक् आकारके कारण सब भूतोंमें विभिन्न प्रकारके पृथक्-पृथक् भावों को जानता है, उस ज्ञान को तू राजस जान ॥ २१ ॥ जो ज्ञान किसी प्रेत-भूतादि की आराधनारूप एक कार्य में पूर्ण फलवालेके समान आसक्त हो जाता है, तथा हेतुसे रहित, यथार्थ तत्त्वसे रहित और अल्प है, वह ज्ञान तामस कहलाता है ॥२२॥ जो कर्म शास्त्रविहित हो, कर्तापन आदिके सम्बन्ध से रहित हो, बिना राग-द्वेषके किया गया हो यानी कीर्ति में राग और अकीर्ति में द्वेष करके न किया गया हो, और

फल न चाहनेवाले पुरुषके द्वारा किया गया हो, वह सात्विक कहलाता है ॥ २३ ॥ परन्तु जो अत्यन्त प्रयास से युक्त कर्म, फलाकांक्षी और अहङ्कार युक्त पुरुष के द्वारा किया जाता है, वह कर्म राजस है ॥ २४ ॥ अनुबन्ध अर्थात् कर्म करने पर उसके पश्चात् होनेवाला दुख, क्षय अर्थात् कर्म करने से होनेवाला धन नाश, हिंसा अर्थात् कर्म में प्राणियों को पहुँचनेवाली पीड़ा, और पौरुष अर्थात् कर्म करने में अपना सामर्थ्य, इन सब का विचार न करके मोह पूर्वक जो कर्म किया जाता है, वह तामस कहलाता है ॥ २५ ॥ फलासक्ति से रहित, कर्तापन के अभिमान से रहित, धैर्य और उत्साह से युक्त तथा सिद्धि और असिद्धि में निर्विकार रहनेवाला

सात्विक कर्ता कहलाता है ॥ २६ ॥ रागी अर्थात् यश चाहने-
 वाला, कर्मफलकी इच्छा करनेवाला, लोभी, हिंसक, अप-
 वित्र, विजय-पराजयरूप हर्ष-शोकसे युक्त, राजस कर्ता
 कहलाता है ॥ २७ ॥ पापकर्मोंमें नियुक्त, विद्यारहित, कर्म
 के आरम्भ न करनेके स्वभाववाला, दुष्ट, धोका देनेवाला,
 ठगनेवाला, आलसी, शोक में डूबा रहनेवाला, और दूसरों
 के लिये दीर्घ काल तक रहनेवाले अनर्थ का विचार करने-
 वाला, तामस कर्ता कहलाता है ॥ २८ ॥ हे धनंजय अर्जुन !
 बुद्धि और धृति के भेद भी जो गुण भेद से तीन प्रकार के हैं
 मेरे द्वारा पृथक् पृथक् कहे हुए ठीक-ठीक सुन ॥ २९ ॥ प्रवृत्ति
 और निवृत्तिको, कर्तव्य और अकर्तव्यको भय और अभय

को, बन्धन और मोक्षको जो बुद्धि जानती है, हे पार्थ ! वह बुद्धि सात्विकी है ॥ ३० ॥ जिस बुद्धिसे मनुष्य धर्म और अधर्मको तथा कर्तव्य-अकर्तव्यको ठीक-ठीक नहीं जानता, वह बुद्धि राजसी है ॥ ३१ ॥ अन्धकारसे ढकी हुई जो बुद्धि अधर्म को धर्म, ऐसा मानती हैं, तथा सब बातों को विपरीत मानती है, हे पार्थ ! वह बुद्धि तामसी है ॥ ३२ ॥ जिस अचल धृतिके द्वारा, मनुष्य योगके उद्देश्यसे, मन, प्राण, तथा इन्द्रियोंकी क्रियाओंको धारण करता है, हे पार्थ ! वह धृति सात्विक है ॥ ३३ ॥ हे अर्जुन ! फल के चाहने वाला पुरुष, जिस धृति से अत्यन्त बढ़ी हुई आसक्ति से धर्म, काम, और अर्थ को धारण करता है, वह धृति राजसी है ॥ ३४ ॥ जिस

धृतिसे, दुष्ट बुद्धिवाला पुरुष स्वप्न को, निद्रा को, भय को, शोक को, विषाद को और विषयों से उत्पन्न होनेवाले मद को नहीं त्यागता, हे पार्थ ! वह धृति तामसी है ॥३५॥ हे भरत-श्रेष्ठ अर्जुन ! अब तीनप्रकार का सुख भी तू मुझसे सुन, जिसमें मनुष्य दीर्घ काल के अभ्यास से प्रीति को प्राप्त होता है दुख के अन्त को प्राप्त होता है ॥ ३६ ॥ जो पहले तो विषके समान किन्तु परिणाम में अमृत के तुल्य हो जाता है, वह आत्म-बुद्धिके प्रसादसे होनेवाला सुख सात्विक कहा गया है ॥३७॥ जो सुख विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे पहले अमृत के सदृश परन्तु परिणाममें विषके सदृश होता है, वह सुख राजस कहलाता है ॥३८॥ जो सुख पहले और पीछे आत्मा

को मोहितकरनेवाला होता है, तथा जो सुख, निद्रा, आलस्य और प्रमादसे उत्पन्न होता है, वह सुख तामस कहा गया है ॥ ३६ ॥ पृथिवी लोकके अन्दर मनुष्यों में या देवलोक के अन्दर देवताओं में ऐसा कोई प्राणी नहीं है, जो प्रकृति से उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे छूटा हुआ हो ॥ ४० ॥ हे परंतप अर्जुन ! ब्राह्मण क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म उनके अपने-अपने स्वभावसे उत्पन्न हुए गुणोंसे पृथक्-पृथक् विभाग किये हुए हैं ॥ ४१ ॥ शम, दम, तप, शौच, क्षमा, आर्जव अर्थात् मन के अनुरूप ही बाहरी चेष्टा करना, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता, ये सब ब्राह्मणके स्वाभाविक कर्म हैं ॥ ४२ ॥ शूरवीरता, तेज, धैर्य, चतुरता, युद्धसे न भागना, दान, और

ईश्वर भाव, ये सब क्षत्रियके स्वाभाविक कर्म हैं ॥४३॥ खेती, गोरक्षा, और व्यापार, ये वैश्यके स्वाभाविक कर्म हैं। सेवारूप कर्म शूद्रका स्वाभाविक कर्म है ॥ ४४ ॥ अपने-अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य सिद्धि को पाता है। अपने कर्म में लगा हुआ मनुष्य जिस प्रकार सिद्धि को पाता है वह सुन ॥ ४५ ॥ जिससे प्राणियोंकी उत्पत्ति आदि प्रवृत्तियाँ होती हैं, और जिससे यह समस्त जगत व्याप्त है, उस परमेश्वरको अपने कर्मोंके द्वारा पूजकर मनुष्य सिद्धिको पाता है ॥४६॥ गुण रहित भी अपना धर्म, भली भाँति अनुष्ठान किये हुए दूसरेके धर्मसे श्रेष्ठ है; क्योंकि स्वभाव से नियत किये हुए कर्मको करता हुआ मनुष्य पापको नहीं

प्राप्त होता ॥ ४७ ॥ हे अर्जुन ! स्वाभाविक कर्म दोष-युक्त भी हो तो उसका त्याग नहीं करना चाहिये, क्योंकि सभी आरम्भ, धुँएँ से अग्नि की भाँति, दोषसे आवृत हैं ॥ ४८ ॥ जिसकी बुद्धि सर्वत्र फल आदिमें आसक्त नहीं है, जो मन को जीत चुका है, और जो परमपुरुषको कर्ता समझने के कारण अपने कर्तृत्वसे निस्पृह हो चुका है, ऐसा पुरुष संन्यास से युक्त होकर परम नैष्कर्म्य सिद्धि पा जाता है अर्थात् परम ध्याननिष्ठा को प्राप्त हो जाता है ॥ ४९ ॥ उस सिद्धिको प्राप्त हुआ पुरुष जिस प्रकार ब्रह्म को प्राप्त होता है, जो ज्ञान की परानिष्ठा है, हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! उसको तू संक्षेप में समझ ॥ ५० ॥ विशुद्ध बुद्धिसे युक्त होकर धृतिसे मनको

वशमें करके, शब्दादि विषयोंका त्यागकर, रागद्वेष को नष्ट करके ॥५१॥ एकान्त देशमें रहता हुआ, थोड़ा आहार करता हुआ, मन, वाणी और शरीरको जीतकर, नित्य ध्यान योग के परायण होकर, वैराग्य का पूर्णतया आश्रय लेकर ॥५२॥ अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और संग्रहको त्यागकर, और ममतासे रहित होकर शान्त पुरुष ब्रह्म भावका पात्र होता है ॥५३॥ (अर्थात् समस्त बन्धनोंसे मुक्त होकर यथार्थ आत्म स्वरूप का अनुभव करता है) ऐसा ब्रह्मभूत प्रसन्नात्मा पुरुष न शोक करता है, न आकांक्षा करता है। सब भूतोंमें सम हुआ (अर्थात् सम्पूर्ण वस्तुमात्र को तृणवत् समझता हुआ) वह मेरी परमभक्ति को प्राप्त कर लेता है ॥५४॥ भक्तिके द्वारा

वह मुझको, मैं जैसा और जो हूँ, तत्त्व से जान लेता है। तब मुझको तत्त्वसे जानकर वह मुझमें ही प्रवेश कर जाता है ॥ ५५ ॥ मेरा आश्रम ग्रहण करके, सब कर्मोंको सदा करता हुआ भी मेरी कृपासे अविनाशी अखण्ड सनातन पदको प्राप्त हो जाता है ॥ ५६ ॥ चित्तसे सब कर्मोंको मुझमें निक्षेप करके, मेरे परायण हुआ, तू बुद्धियोग का आश्रय लेकर निरन्तर मुझमें ही चित्त लगाये रहने वाला हो ॥ ५७ ॥ मुझमें चित्तवाला होकर, तू मेरी कृपा से सब कठिनाइयों को पार कर जायगा। परन्तु यदि तू अहङ्कारसे मेरे कथन को नहीं सुनैगा, तो नष्ट हो जायगा ॥ ५८ ॥ जो अहङ्कार का आश्रय लेकर तू ऐसा मानता है कि 'मैं युद्ध नहीं करूँगा'

तो यह तेरा निश्चय मिथ्या हो जायगा । क्योंकि प्रकृति तुझे युद्ध में लगा देगी ॥ ५६ ॥ हे कुन्तीपुत्र अर्जुन ! अपने स्वाभाविक कर्म शौर्यसे बँधा हुआ तू यदि मोहसे युद्ध करना नहीं चाहेगा, तो भी विवश होकर उसे करेगा ॥ ६० ॥ हे अर्जुन ! ईश्वर सभी प्राणियोंके हृदय-देशमें स्थित हैं । शरीर-इन्द्रियरूप यन्त्र पर चढ़े हुए सब प्राणियोंको मायासे घुमाता है ॥ ६१ ॥ हे भारत अर्जुन ! सब प्रकारसे तू उस ईश्वर मुझ की शरण ग्रहण कर । उसकी कृपासे परम शान्ति को और शाश्वत स्थानको प्राप्त होगा ॥ ६२ ॥ इस प्रकार गोपनीयसे गोपनीय ज्ञान मैंने तुझसे कह दिया । इसको पूरी तरहसे विचार कर, जैसी तेरी इच्छा हो, वैसा कर ॥ ६३ ॥

तू मेरा सब गुप्ततत्वोंमें गोपनीय श्रेष्ठ वचन फिर सुन । तू मेरा
 अत्यन्त प्रिय है, इसलिये तेरे हित की बात कहूँगा ॥ ६४ ॥
 मुझसे मनवाला हो, मेरा भक्त हो, मेरा पूजन करनेवाला
 हो, और मुझको ही नमस्कार कर । तू मुझको ही प्राप्त
 होगा । यह मैं तुझसे सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, तू मेरा प्यारा
 है ॥ ६५ ॥ पापोंके प्रायश्चित्तरूप जो कृच्छ्र, चान्द्रायण व्रत
 तथा अग्निष्टोमादि यज्ञरूप नाना प्रकार के सब धर्मों को
 अथवा कर्मयोग, ज्ञानयोग, भक्तियोगरूप-सब धर्मों का
 फल कर्म और कर्तृत्वके त्यागके द्वारा परित्याग करके,
 मुझ एक की शरणमें आ जा । मैं तुझे सारे पापोंसे छुड़ा
 दूँगा । शोक मत कर ॥ ६६ ॥ यह परम गुह्य शास्त्र तुझे न

कभी तपहीन, न भक्तिहीन, न सुनना न चाहनेवालेके प्रति,
 न मेरी निन्दा करनेवालेके प्रति, कहना चाहिये ॥ ६७ ॥
 जो इस परम गोपनीय शास्त्रको मेरे भक्तोंसे कहेगा, वह
 मुझमें परम भक्ति करके मुझको ही प्राप्त होगा, इसमें संदेह
 नहीं है ॥ ६८ ॥ मनुष्योंमें उसके सिवा दूसरा प्रिय कार्य करने
 वाला कोई नहीं हुआ है; और उससे बढ़कर मेरा प्रियतर
 इस पृथ्वी पर दूसरा होगा भी नहीं ॥ ६९ ॥ जो हम दोनोंके
 इस धर्ममय संवाद का अध्ययन-मात्र भी करेगा, उसके द्वारा
 मैं ज्ञानयज्ञ से पूजित हो जाऊँगा। ऐसी मेरी मति है ॥ ७० ॥
 जो श्रद्धावान् और अदोषदर्शी पुरुष इस गीताशास्त्र का
 केवल श्रवणमात्र करता है, वह भी मुक्त होकर, पुण्यकर्मा

पुरुषोंके शुभ लोकोंको प्राप्त हो जाता है ॥ ७१ ॥ हे पार्थ
अर्जुन ! क्या तूने इसे एकाग्र चित्तसे सुना ? हे धनञ्जय अर्जुन !
क्या इससे तेरा अज्ञानसे उत्पन्न मोह नष्ट हो गया ? ॥ ७२ ॥

अर्जुन बोले—

हे अच्युत कृष्ण ! तुम्हारी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया,
मैंने स्मृति अर्थात् यथार्थ तत्त्वज्ञान भी पा ली है । अब मैं
सन्देह रहित होकर स्थित हूँ । अब तुम्हारे वचन का पालन
करूँगा ॥ ७३ ॥

संजय बोले—

इस प्रकार मैंने महात्मा श्रीवासुदेव कृष्ण और अर्जुन का
यह अद्भुत और रोमाञ्चकारी संवाद सुना ॥ ७४ ॥ श्रीव्यास-

देव की कृपा से यह योग नामका परम गोपनीय रहस्य मैंने स्वयं योगेश्वर भगवान् श्रीकृष्ण से साक्षात् कहते हुए सुना ॥७५॥ हे राजन् ! श्रीकृष्ण और अर्जुनके इस अद्भुत और पुण्यमय संवादको स्मरण कर मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥ ७६ ॥ हे राजन् ! भगवान् श्रीहरिके उस अत्यन्त अद्भुतरूप को भी बार-बार स्मरण करके मुझे बड़ा आश्चर्य हो रहा है, और मैं बार-बार हर्षित हो रहा हूँ ॥७७॥ जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण और जहाँ धनुर्धारी अर्जुन हैं, वहीं श्री, विजय, विभूति और अचल नीति है। यही मेरी सम्मति है ॥ ७८ ॥

मोक्षसंन्यासयोग नाम अठारहवाँ अध्याय समाप्त



अष्टादश तथा सप्तश्लोकी

श्रीमद्भगवद्गीता

मूल तथा भाषा

अष्टादशश्लोकी गीता

अर्जुन उवाच

अध्याय

श्लोक

(१) निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव ।
न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे ॥ ३१ ॥

श्रीभगवानुवाच

- (२) योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय ।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते ॥ ४८ ॥
- (३) कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन् ।
इन्द्रियार्थान्विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते ॥ ६ ॥
- (४) श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः ।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति ॥ ३६ ॥

अठारह श्लोकोंमें भाषा गीता

अर्जुन बोले—

- (१) सब असगुन मैं लखत हों नाहिं लखत कल्यान ।
का विधि हम सुख पाइ हैं बंधुन के हति प्रान ॥ ३१ ॥

श्रीभगवान् बोले—

- (२) योगयुक्त हुइ कर्म करु संग छाँड़ि के पार्थ ।
सिद्धि असिद्धि समान जहँ वही योग परमार्थ ॥ ४८ ॥
- (३) कर्मेन्द्रिय को रोकि कै मन में सुमिरत जोइ ।
विषय भोग को मूढ़ मति मिथ्याचारी सोइ ॥ ६ ॥
- (४) तत्पर इन्द्रिय जित तथा श्रद्धायुत लह ज्ञान ।
ज्ञान पाइ तुरतहि लहत सो जन शान्ति महान ॥ ३६ ॥

- (५) जितेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः ॥ २८ ॥
- (६) युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु ।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥ २९ ॥
- (७) दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया ।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते ॥ ३० ॥
- (८) अग्निज्योतिरहः शुक्लः पञ्चमासा उत्तरायणम् ।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः ॥ ३१ ॥
- (९) अपि चेत्सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक् ।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः ॥ ३२ ॥
- (१०) यो मामजमनादिं च वेत्ति लोकमहेश्वरम् ।
असंमूढः स मर्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते ॥ ३३ ॥

- (५) इन्द्रिय मन बुधि रोकि कै मोक्ष परायण जोइ ।
विगत क्रोध भय कामना सदा मुक्त सो होइ ॥ २८ ॥
- (६) सम आहार विहार सम चेष्टा कर्मन माहि ।
स्वप्न बोध सम दुःखहर पार्थ योग हो ताहि ॥ २९ ॥
- (७) दुस्तर दैवी गुणमयी मम माया लखु याहि ।
शरण मोर जो लहत है सोइ तरत है ताहि ॥ ३० ॥
- (८) अग्नि ज्योति दिन शुक्ल पख अरु उत्तर वै मास ।
इनमें योगी प्राण तजि जाइ ब्रह्म के पास ॥ ३१ ॥
- (९) भजत जु दुष्टाचार हू मोही में चित लाइ ।
सम्यक् व्यवसायी सुजन पारथ ! मानहु ताइ ॥ ३२ ॥
- (१०) जानै मोइ अनादि अज लोक महेश्वर जोइ ।
सब पापन तै मुक्त है दिव्य ज्ञान लह सोइ ॥ ३३ ॥

- (११) मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः ।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव ॥ ५५ ॥
- (१२) श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते ।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ॥ १२ ॥
- (१३) क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत ।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम ॥ २ ॥
- (१४) मां च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते ।
सगुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्म भूयाय कल्पते ॥ २६ ॥
- (१५) निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा
अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः ।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञै-
र्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत् ॥ ५ ॥

- (११) मेरे ही हित कर्म करि मो में चित्त लगाइ ।
सङ्ग रहित निर्वैर सो भक्त मोर पद पाइ ॥ ५५ ॥
- (१२) ज्ञान श्रेष्ठ अभ्यास तें ज्ञानहुँ ते बड़ ध्यान ।
कर्मज फल को त्याग पुनि जाते शान्ति मिलान ॥ १२ ॥
- (१३) हे भारत ! क्षेत्रज्ञ मोह सब क्षेत्रन में मान ।
ज्ञान क्षेत्र क्षेत्रज्ञ को सब तें उत्तम जान ॥ २ ॥
- (१४) अटल भक्ति के योग तें जो मम सेवाधार ।
ब्रह्म भाव को पाइ है करत गुणन जो पार ॥ २६ ॥
- (१५) जो मान मोह निकासिकै अरु संग दोषनि जीतिकै ।
थिर नित्य आतम बिच रहै अरु कामना सब छाँड़िकै ॥
सो दुःख नामक द्बन्द ते अरु मोहहू ते मुक्त है ॥
हे वीरवर शाश्वत परमपद शान्ति अक्षय को लहै ॥ ५ ॥

- (१६) यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्तते कामकारतः ।
 न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम् ॥ २३ ॥
- (१७) मनः प्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः ।
 भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥ १६ ॥
- (१८) सर्वधर्मान्परित्यज्य मामेकं शरणं ब्रज ।
 अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥ ६६ ॥

गीतासारमिदं पुण्यं यः पठेत्सुसमाहितः ।
 विष्णुलोकमवाप्नोति भयशोकविनाशनम् ॥

इति श्रीवेदव्यासरचिता अष्टादशश्लोकीगीता सम्पूर्णा

- (१६) जो तजिकै विधि शास्त्र की करै कर्म मन मानि ।
 सो नहिं पावत सिद्धि सुख होत परमगति हानि ॥ २३ ॥
- (१७) मन प्रसाद सौम्यत्व अरु मौन आत्मग्रह होइ ।
 निश्चलता व्यवहार में मन तप कहिये सोइ ॥ १६ ॥
- (१८) सब धर्मन को त्यागि कै एक मोहिं गहु आइ ।
 मत सोचै सब पाप तैं लैहों तोहि छुड़ाइ ॥ ६६ ॥

गीता के इस शुचि सारको पढ़ै जो चित्त लगाइ ।
 भय अरु शोक-विनाशकर विष्णुलोक को पाइ ॥

श्रीवेदव्यासरचित अठारहश्लोकी गीता समाप्त

सप्तश्लोकी गीता

(१) ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।

यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥ ८-१३ ॥

(२) स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या

जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च ।

रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति

सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसंघाः ॥ ११-३६ ॥

(३) सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम् ।

सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति ॥ १३-१४ ॥

(४) कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयां समनुस्मरेद्यः ।

सर्वस्य धातारमर्चित्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात् ॥ ८-६ ॥

सातश्लोकी भाषा गीता

- (१) ओमेकाक्षर ब्रह्म कों जपत निरन्तर जोइ ।
मोको सुमिरत चल बसै लहै परमपद सोइ ॥ ८-१३ ॥
- (२) आनन्दमय यह उचित ही है विश्व सब हे विश्वरूप ।
तेरी प्रशंसा कीर्ति करके प्रेमपद पावत अनूप ॥
पूर्वादि दिशि को नाथ ! निश्चर डरत काँपत द्रवत हैं ।
समुदाय सिद्धेन के चहुँ दिस दृष्टिगोचर नमत हैं ॥ ११-३६ ॥
- (३) जाके हैं सब ओर को हाथ पाँव मुख कान ।
मस्तक नेत्र अनन्त जो, सब में व्याप्त महान ॥ १३-१३ ॥
- (४) जो प्रेरक पालक-सकल सूक्ष्मरूप तमपार ।
पुरुष पुरातन कवि विमल जो रविवर्ण अपार ॥ ८-६ ॥

- (५) ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्रादुरव्ययम् ।
 छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित् ॥ १५-१ ॥
- (६) सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनं च ।
 वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम् ॥ १५-१५ ॥
- (७) मन्मना भव मद्रक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु ।
 मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे ॥ १८-६५ ॥
- (इति सप्तश्लोकी गीता समाप्ता)

(५) जड़ ऊपर शाखा तले वेद पत्र अतिशुद्ध ।

ऐसे नित अश्वत्थ को जो जानै सो बुद्ध ॥ १५-१ ॥

(६) हृदय में सब के मैं बसत हों

मोतेहि स्मृति ज्ञान विचार है ।

सब श्रुतिन सों मैं जानन जोग हों

रचयिता श्रुति कौ अरु जाननिहार मैं ॥ १५-१५ ॥

(७) नमस्कार करि पूज मोहिं मोमें ध्यान लगाय ।

सत्यव्रत पुनि भक्त हुइ प्रिय मोमें मिल जाय ॥ १८-६५ ॥

(सातश्लोकी गीता समाप्त)

गीता आरती

जय भगवद्गीते, जय भगवद्गीते । हरि-हिय-कमल-विहारिणि, सुन्दर
सुपुनीते ॥ जय० ॥ १ ॥ कर्म-सुमर्म-प्रकाशिनि, कामासक्तिहरा । तत्त्वज्ञान-
विकाशिनि, विद्याब्रह्मपरा ॥ जय० ॥ २ ॥ निश्चल भक्ति-विधायिनि,
निर्मल मलहारी । शरण-रहस्य-प्रदायिनि, सब विधि सुखकारी ॥
जय० ॥ ३ ॥ राग-द्वेष-विदारिणि, कारिणि मोद सदा । भव-भय-
हारिणि तारिणि, परमानन्द प्रदा ॥ जय० ॥ ४ ॥ आसुर भाव-विनाशिनि,
नाशिनि तम-रजनी । देवी सद्गुण दायिनि, हरि-रसिका सजनी ॥
जय० ॥ ५ ॥ समता, त्याग सिखावनि, हरि-मुख की बानी । सकल
शास्त्र की स्वामिनि, श्रुतियों की रानी ॥ जय० ॥ ६ ॥ दयासुधा बरसावनि,
मातु! कृपा कीजै । हरि-पद-प्रेम दान कर, अपनो कर लीजै ॥ जय० ॥ ७ ॥

श्रीमती स्मिता पटवर्धन, प्रबन्ध संचालक द्वारा प्रोफेशनल प्रेस, 10 बी तिलक मार्ग, हजरतगंज, लखनऊ में मुद्रित

तेज कुमार बुक डिपो (प्रा.) लिमिटेड की चुनी हुई विक्रयार्थ पुस्तकें।

सुखसागर मध्यम अर्थात् श्रीमद्भागवत् का हिन्दी अनुवाद श्रीकाशीवासी बाबू मक्खन लाल पंजाबी खत्री ने पं० जोखूराम और जगन्नाथ प्रसाद की सहायता से किया। उसका 66वाँ संस्करण आठ तिरंगे चित्रों सहित, आफसेट प्रिंटिंग कागज पर छपी हुई, मजबूत कपड़े की पक्की जिल्द तथा चित्ताकर्षक आवरण सहित-मूल्य 300/-

हमारे अमूल्य प्रकाशन

योग वशिष्ठ सम्पूर्ण दो भागों में	475/-	विश्राम सागर सटीक सचित्र सजिल्द	225/-
रामायण तु.कृ. टीका पं.लक्ष्मण प्रसाद		शिवपुराण भाषा 99 खण्डों में	200/-
भारद्वाज सचित्र सजिल्द	300/-	महाभारत भाषा सचित्र सजिल्द	180/-
रामायण तु.कृ. टीका पं.सूर्यदीन शुक्ल	180/-	महाभारत सबल सिंह चौहान दोहा चौपाई	125/-
भक्तमाल भाषा अर्थात् भक्तकल्पदुम		भक्ति सागर चरणदास सजिल्द	125/-
लेखक श्री प्रताप सिंह	90/-	प्रेम सागर सचित्र सजिल्द	120/-

श्रीमद्भगवद्गीता-सजिल्द कपड़ा मूल्य- 40/-

चौथीबार-तीन हजार प्रतियाँ

सन् २००६ई.

मिलने का पता-

तेज कुमार बुक डिपो (प्रा.) लिमिटेड पोस्ट बाक्स-85, 1 त्रिलोक नाथ रोड, हजरतगंज, लखनऊ
श्रीमती स्मिता पटवर्धन, प्रबन्ध संचालिका द्वारा प्रोफेशनल प्रेस-90 बी तिलक मार्ग, हजरतगंज लखनऊ में मुद्रित



श्रीमती स्मिता पटवर्धन, प्रबन्ध संचालिका
तेज कुमार बुक डिपो प्रा. लि.

1-त्रिलोकनाथ रोड, हज़रतगंज, लखनऊ द्वारा प्रकाशित एवम् प्रोफेशनल प्रेस, लखनऊ द्वारा मुद्रित